श्री गीता - योग - प्रकाश

महर्षि मेँहीँ परमहंस जी महाराज

श्री गीता-योग-प्रकाश

महर्षि मेँहीँ परमहंस जी महाराज

अखिल भारतीय सन्तमत-सत्संग-प्रकाशन

प्रकाशक
अखिल भारतीय सन्तमत-सत्संग-प्रकाशन
महर्षि मेँहीँ आश्रम, कुप्पाघाट,
भागलपुर-३ (बिहार)

प्रथमावृत्ति ३००० (सं० २०१२ वि०)
द्वितीयावृत्ति ३१०० (सं० २०२० वि०)
तृतीयावृत्ति ३००० (सं० २०२६ वि०)
चतुर्थावृत्ति ३००० (सं० २०३२ वि०)

मूल्य—१-५०

मुद्रक
शान्ति-सन्देश प्रेस
महर्षि मेँहीँ आश्रम, कुप्पाघाट
भागलपुर-३ (बिहार)

प्रकाशकीय

श्री मद्भगवद्गीता का सत्य-मूल सम्भवतः बहत्तर श्लोकी गीता ही हो, किन्तु सप्त शत श्लोकी गीता ने भी विश्व की अनेक भाषाओं के साहित्यों में जो महत्वपूर्ण स्थान पाया है, उसकी समकक्षता की पंक्ति में एक भी साहित्य नहीं। गीता-ज्ञान के उद्गाता भगवान् कृष्ण के ज्ञान में किसी भाँति की कमी थी—ऐसा कथन अति अश्रद्धेय है, किसी भाँति विश्वास-योग्य नहीं। इसीलिये मानव-मात्र के कल्याण-हेतु अत्यन्त और अनिवार्य आवश्यकता थी कि किसी पूर्ण समाधि-लब्ध महापुरुष की दिव्य वाणी के द्वारा भारत की राष्ट्रभाषा 'भारती' में इसकी अनुभव-पूर्ण व्याख्या अभिलेखित हो।

इस अभिपूर्ति की दिशा में 'अखिल भारतीय संतमत-सत्संग-प्रकाशन' का यह शान्त-स्वच्छ प्रयत्न है। गीता-ज्ञान के बौद्धिक व्याख्याकारों-द्वारा यदि कहीं इस के शुभ्रतम प्रकाश में अज्ञान-तमस का प्रवेश हुआ हो तो अवश्य ही 'श्री गीता-योग-प्रकाश' की अनुभूत-वाणी-द्वारा उसका संहरण होगा; इसी अविचल विश्वास के द्वारा यह प्रकाशन-कार्य अनुप्राणित है। यह तीसरा संस्करण 'शान्ति-सन्देश प्रेस', महर्षि मेँहीँ आश्रम, कुप्पाघाट भागलपुर-३ (बिहार) से ही प्रकाशित हुआ है, जहाँ नित्य प्रति सन्त-वाणियों की निर्मल ज्ञान-वृष्टि हो रही है और होती ही रहती है; इस आध्यात्मिक महारस के केन्द्र हैं—सन्तमत के अद्यतन आचार्य महर्षि मेँहीँ परमहंस जी महाराज।

विजया दशमी
सं० २०२६ वि०

अ० भा० सन्तमत-सत्संग-प्रकाशन

अनुक्रमणिका

—:oo:—

महर्षि मेँहीँ परमहंस जी महाराज

महर्षि मेँहीँ

महर्षिजी का परिचय

श्री गीता-योग-प्रकाश के लेखक महर्षि मेँहीँ परमहंस जी महाराज हैं। इस जगतीतल पर आपका अवतरण सं० १९४१ वि०, वैशाख शुक्ल चतुर्दशी तदनुसार सन् १८८४ ई० को बिहार प्रान्त स्थित सहर्षा मण्डलान्तर्गत, उदाकिशुनगंज थाने के खोखशी श्याम ग्राम में अपने मातामह के यहाँ हुआ था। आपका पितृगृह पुरैनियाँ मण्डलान्तर्गत ग्राम सिकलीगढ़ धरहरा में है। आपके पूज्य पिता कायस्थ कुलभूषण स्वर्गीय बाबू बबुजन लाल दास जी थे। आपकी जन्मराशि पर का नाम श्री रामानुग्रह लाल दास जी था।

कहावत है—"होनहार बिरवान के होत चीकने पात।" आप में जन्मजात योगी के चिह्न विद्यमान थे। शैशवावस्था से ही आप के सिर में सात जटायें थीं। वे प्रतिदिन कंघी से सुलझा दिये जाने पर भी पुनः प्रातःकाल अनायास सात जटायें ही बन जाती थीं।

चार वर्ष की अवस्था में ही आपकी पूज्या माताजी इस असार संसार को त्याग कर परलोक सिधार गईं। पाँच वर्ष की अवस्था में कुल-पुरोहित-द्वारा आपका विधिवत् मुण्डन-संस्कार सम्पन्न होने के पश्चात् आपकी प्राथमिक शिक्षा का शुभारम्भ अपने ग्राम में ही हुआ। आपकी शिक्षा का आरम्भ कैथी लिपि से हुआ, फिर भी प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त करते-करते आपने दिव्य प्रतिभा के कारण अल्पकाल में ही नागरी लिपि भी सीख ली और आप ग्यारह वर्ष की अवस्था में पुरैनियाँ जिला स्कूल में विद्याध्ययन के लिये भर्ती कराये गये। वहाँ विद्याध्ययन काल में आपकी अभिरुचि आध्यात्मिक ग्रन्थों के अध्ययन एवं पूजा-ध्यान की ओर अधिकाधिक बढ़ती गई।

सन् १९०४ ई० की ४ जुलाई को आप प्रवेशिका परीक्षा दे रहे थे। उस दिन अँग्रेजी की परीक्षा थी। प्रश्नपत्र का प्रथम प्रश्न था—"Quote from memory the poem 'Builders' and explain it in your own English" अर्थात् 'निर्माणकर्त्ता' शीर्षक पद्य को अपने स्मरण से लिख कर उसकी व्याख्या करो।

आपने 'निर्माणकर्त्ता' शीर्षक कविता का प्रथम छन्द लिख कर उसकी विशद व्याख्या की। उसका समासरूप निम्नलिखित है—

"For the structure that we raise;
Time is with materiales' field,
Our todays and yesterdays
Are the blocks with which we build."

"हमलोगों का जीवन-मंदिर अपने प्रतिदिन के सुकर्म वा कुकर्म रूपी ईंटों से बनता वा बिगड़ता है। जो जैसा कर्म्म करता है, उसका वैसा ही जीवन बनता है। इसलिये हमलोगों को भगवद्भजन रूपी सर्वश्रेष्ठ ईंटों से अपने जीवन-मंदिर की दीवाल का निर्माण करते जाना चाहिये।"' ''समय की सदुपयोगिता सत्कर्म में है और ईश्वर-भक्ति वा भजन से श्रेष्ठतर और कोई भी सत्कर्म्म नहीं है।..........

इस भाँति अध्यात्मपूर्ण हृदयोद्गारों को अभिव्यक्त करते हुए अन्त में आपने लिखा—

"देह धरे कर यहि फल भाई। भजिय राम सब काम बिहाई॥"

यह उत्तर लिखते-लिखते आप भाव-विह्वल हो अपने संवेग का संवरण न कर सके और आपने निरीक्षक (Invigilator) से कहा—"May I go out Sir ?"—महाशय! क्या मैं बाहर जा सकता हूँ? संरक्षक महोदय आपके मनोभाव को परख न सके और उन्होंने आपको बाहर जाने की अनुमति दे दी।

बस क्या था ? जैसे नदी का बाँध टूटने पर जलधारा अबाध रूप से अग्रसर होती है, वैसे ही आप परीक्षा-निरीक्षक महोदय का आदेश पा तीव्र और उत्कट आध्यात्मिक अन्तःप्रेरणा से प्रेरित हो विद्यालय का परित्याग कर साधु-सन्तों की खोज में निकल पड़े। सन्तों के दर्शन सहज नहीं। पहाड़ों और अरण्यों में भटकने पर अपार कष्ट तो हुए, किन्तु सन्तों के दर्शन नहीं हुए।

आपने गृहस्थ-जीवन से सुदूर—ब्रह्मचर्य-जीवन को ही पसंद किया, अतएव आपने विवाह नहीं किया। सत्रह वर्ष की अवस्था में आप दरियापंथ के साधु बाबा रामानन्द स्वामी से दीक्षित होकर मानस-जाप, मानस-ध्यान और खुले नेत्र से त्राटक का अभ्यास करने लगे। निष्ठा-पूर्वक वर्षों आपने इसकी साधना की। फिर भी अध्यात्म-ज्ञान की पूर्णता की पिपासा बनी रही। जब उन गुरु महाराज से आपकी जिज्ञासाओं का समाधान नहीं हुआ, तब आप किसी दूसरे पहुँचे हुए साधु-सन्त की खोज करने लगे। वर्षों की खोज-ढूँढ़ के पश्चात् सन् १९०९ ई० में आपका सन्तमत-साधना से परिचय हुआ और उत्तर प्रदेशान्तर्गत मुरादाबाद निवासी परम संत बाबा देवी साहब के शिष्य स्वर्गीय बाबू राजेन्द्रनाथ सिंह जी महोदय (मायागंज, भागलपुर, बिहार) से आपने दृष्टि-साधन की युक्ति (भेद) प्राप्त की। उसी वर्ष भागलपुर में ही आपको परम सन्त बाबा देवी साहबजी का दिव्य दर्शन और पूर्ण समाधानकारी प्रवचन सुनने का सुअवसर भी प्राप्त हुआ। इस शुभ दर्शन और प्रवचन से आपको शान्ति और तृप्ति का बोध हुआ। तत्पश्चात् आपको सद्गुरु के साथ सत्संग और उनकी सेवा करने के सुअवसर भी प्राप्त होते रहे। आप प्रति वर्ष बिहार से मुरादाबाद (उत्तर प्रदेश) जाते और उनकी यथायोग्य सेवा करते। आपकी सेवा-भक्ति से प्रसन्न होकर सन् १९१४ ई० में बाबा देवी साहब ने आपको नादानुसन्धान—सुरतशब्दयोग की साधना भी बतला दी।

और कहा—"अभी दस वर्ष पर्यन्त तुम मात्र दृष्टियोग का अभ्यास करो। मैंने बत्तीस वर्ष तक केवल दृष्टियोग का अभ्यास किया है। दृष्टियोग-अभ्यास में मजबूत हुए बिना शब्द-साधना करना ठीक नहीं है। यह अभी तुमको इसलिये बतला दिया कि यह तुम्हारी जानकारी में रहे। परन्तु इसका अभ्यास अभी नहीं करना।

इन साधनाओं का नित्य नियमित अभ्यास आप वर्षों एकान्त-वासी बन गुफा में बैठ कर बड़ी निष्ठा से करते रहे हैं। सन् १९३३-३४ ई० में अठारह महीने तक भागलपुर के कुप्पाघाट की गंगा-पुलिनस्थ शान्त सुपावन गुहा में बैठ कर आपने दृढ़ ध्यानाभ्यास किया। इसी पुण्य-स्थल ने आज महर्षि मेँहीँ आश्रम (कुप्पाघाट भागलपुर) के नाम से तीर्थत्व प्राप्त कर लिया है, जहाँ सहस्रों नर-नारी एकत्र होकर योग, ज्ञान और भक्ति की मन्दाकिनी में अवगाहन कर कल्याण-पथ के पथिक बन अपना मानव-जीवन कृतार्थ करते हैं।

सन् १९५७ ई० में एक आपकी प्रच्छन्न शक्ति-भरी वाणी आविर्भूत हुई। "लोगों को चाहिये कि कुप्पाघाट में भी एक स्मारक बनवा दे।" जिसने सन् १९६० ई० से क्रियात्मक रूप धारण किया और आज वह वाणी अखिल भारतीय सन्तमत-सत्संग के केन्द्र-रूप में परिणत हो 'महर्षि मेँहीँ आश्रम' के नाम से प्रख्यात हो रही है।

प्रथम यहाँ की गुफा पर ताड़-पत्ते की छाजन देकर कुछ दिन निवास हुआ, फिर फूस की कुटिया बनी, पर सम्प्रति विशालकाय सन्तमत-सत्संग-मंदिर, महर्षि-कुटीर एवं विभिन्न साधकों-द्वारा निर्मित कई साधना-कुटीर गंगा की धारा जैसे प्रज्ज्वलित हो रहे हैं। आज यहाँ महर्षिजी-रचित सभी पुस्तकों का प्रकाशन-कार्य भी शान्ति-सन्देश-प्रेस द्वारा सम्पन्न हो रहा है। महर्षि जी के वर्त्तमान निवास से तो यह भूमि मानों सन्तसाधना से प्रक्षालित

हो अपनी पवित्रता की किरणों को चतुर्दिक विखेर रही है। इसीलिये यह स्थान दर्शनीय भी हो गया है।

सम्प्रति यद्यपि आपको योगाङ्गों को पूर्ण कर योगबल-प्राप्त्यर्थं योगाभ्यास करना नहीं है, फिर भी आपके अनुसरण-द्वारा लोक-पथ कल्याणमय हो, इसी दृष्टि को अपनाये रख कर आज भी आप इन साधनाओं को सुगम्भीर एवं सुनिर्मल निष्ठा के साथ अविरल, अविश्रान्त रूप से कर रहे हैं। आपने इन साधनाओं द्वारा केवल अपने ही मोक्ष का पथ प्रशस्त किया हो, सो नहीं; अपितु मनुष्य- जाति के लिये चिर अवरुद्ध मोक्ष-मार्ग खोल दिया है। इसीलिये तो आपका उद्घोष है—"जितने मनुष-तन धारि हैं, प्रभु भक्ति कर सकते सभी।" तथा "मानस-जाप, मानस-ध्यान, दृष्टियोग और सुरत-शब्दयोग-द्वारा सर्वेश्वर की भक्ति करके अन्धकार, प्रकाश और शब्द के प्राकृतिक तीनों परदों से पार जाना और सर्वेश्वर से एकता का ज्ञान प्राप्त करके मोक्ष पा लेने का मनुष्य-मात्र अधिकारी है"—(महर्षि मेँहीँ-पदावली)।

आपके प्रचार का क्षेत्र विशेष कर देहात रहा है। आपने समाज के असंख्य पीड़ित, पद-दलित, शोषित एवं अशिक्षित मनुष्यों में अपनी साधना का प्रचार किया है। एक दिन आपके मुख से दयार्द्र वाणी उच्छवसित हो उठी थी—"जिसको कोई पूछने वाला नहीं है अर्थात् जिसको कोई आदर की दृष्टि से नहीं देखता है, ऐसे आदमी जब दीक्षा पाने के लिये मेरे पास आते हैं, तो उसे दीक्षा देने में मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है।" रेलवे स्टेशन से चालीस-चालीस मील दूर देहात में, जहाँ यातायात का साधन मात्र बैलगाड़ी ही है, आप अस्सी वर्ष की वृद्धावस्था में भी गर्मी, बरसात और शीत ऋतु-जन्य कष्टों को निर्विकार भाव की पुलकित प्रसन्नता में सहन करते हुए जाते हैं और जनता में अपनी साधना-विधि का प्रचार कर उन्हें चरित्र-निर्माण की शिक्षा देते हैं।

गो० तुलसीदासजी ने ठीक ही कहा है—"सन्त सहहिं दुःख परहित लागी।" आप उनकी इस वाणी को चरितार्थ कर रहे हैं।

कबीर, नानक, दादू और पलटू आदि सन्तों की भाँति आप भी अपनी साधना के आलोक में अज्ञानान्धकार में भटकते हुए असंख्य मानवों के हृदय में आध्यात्मिक चेतना की ज्योति जगा कर उनका मार्ग-प्रदर्शन करते हैं। यही कारण है कि आज आप से वैदिक धर्मावलम्बी के लिये तो कहना ही क्या, बौद्ध, इस्लाम और ईसाई भी दीक्षित होकर अपने को कृतकृत्य मानते हैं।

आपके प्रचार का आधार है—वेद, उपनिषदादि आर्ष ग्रन्थ और सन्तों की वाणियां। सन्तों की वाणियों में साधनाओं-द्वारा जिस सत्य का साक्षात् करने का वर्णन किया गया है, उनका अभ्यास करके ही आपने उसका साक्षात्कार किया है।

आप मधुकरी वृत्ति नहीं करके अपने गुरु महाराज जी के आज्ञानुसार कृषि-कर्म्म-द्वारा अपना जीवन-निर्वाह करते हैं और अपने शिष्यों को भी स्वावलम्बी जीवन व्यतीत करने की शिक्षा देते हैं।

सर्वं सन्तानुमोदित आपको साधना-विधि का क्रम है—मानस-जाप, मानस-ध्यान, दृष्टियोग तथा नादानुसन्धान अर्थात् सुरत शब्द-योग—तदनुसार इन विधियों के साथ-साथ आप झूठ, चोरी, नशा, हिंसा और व्यभिचार से विरत रहने का प्रबल आदेश देते हैं। आपका कथन है कि सदाचार की नींव पर ही साधना-भवन का सुनिर्माण किया जा सकता है। अतः साधकों के चरित्र-निर्माण के लिये आप सतत् सचेष्ट रहते हैं।

मानव के उभय लोक कल्याणार्थ आपने अपने सत्संग, अध्ययन, मनन, निदिध्यासन और अनुभवाधार पर कई पुस्तकें लिखीं और कुछ पुस्तकों की टीका कर जन-साधारण के लिये उन्हें बोधगम्य

बनाया है। इनके नाम हैं—(१)सत्संगयोग (चारों भाग), (२) सन्तवाणी-सटीक, (३) रामचरितमानस सार-सटीक, (४)वेद दर्शन-योग, (५) श्री गीता-योग-प्रकाश, (६) सत्संग-सुधा, प्रथम एवं द्वितीय भाग, (७) महर्षि "मेँहीँ"-पदावली, (८) मोक्ष-दर्शन (९) भावार्थ सहित घट रामायण पदावली (१०) विनय-पत्रिका-सार-सटीक, (११) ईश्वर का स्वरूप और उसकी प्राप्ति, (१२) ज्ञान-योग-युक्त ईश्वर भक्ति।

(१) सत्सङ्गयोग—इसके प्रथम भाग में वेदों, उपनिषदों, श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत, अध्यात्म रामायण, शिवसंहिता, महाभारत, ज्ञान संकलिनी तन्त्र, दुर्गा सप्तशती इत्यादि के मोक्ष सम्बन्धी सदुपदेशों का संग्रह है। दूसरे भाग में भगवान् महावीर, भगवान् बुद्ध, भगवान् शंकराचार्य्य, महायोगी गोरखनाथ जी महाराज, सन्त कबीर साहब, गुरु नानक साहब, गो० तुलसीदास जी, भक्तवर सूरदास जी, सन्त तुलसी साहब (हाथरस निवासी), स्वामी विवेकानन्द, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, राधा स्वामी साहब, बाबा देवी साहब प्रभृति पचास सन्तों-महात्माओं और भक्तों के सदुपदेश हैं। तीसरे भाग में वर्त्तमान विद्वानों और महात्माओं के उत्तमोत्तम वचन हैं, जो 'कल्याण' तथा अन्य पत्रों से उद्धृत हैं। सत्संग, श्रवण, मनन, अध्ययन एवं समाधि-साधना-द्वारा महर्षि जी की अनुभूतियों का वर्णन चौथे भाग में है।

(२)सन्तवाणी-सटीक—संतों की वाणी उनकी अनुभूतियों और अनुभवों का अगम और अपार सिंधु है, इस पुस्तक में महर्षिजी ने उसे सर्व साधारण की समझ में आने योग्य बनाने का यथायोग्य प्रयास किया है।

(३) रामचरितमानस सारसटीक—इस ग्रन्थ में महर्षिजी ने रामचरितमानस के उपदेशात्मक, साधनात्मक और अनुभव-प्रकाशक दोहों, चौपाइयों, छन्दों एवं सोरठों का चयन कर उनकी

टीका और व्याख्या की है। रामचरितमानस का कथा-क्रम भी अभंग रूप से है। साथ ही सर्व साधारण का यह भ्रामक विचार कि, 'गोस्वामी तुलसीदास जी महाराज सगुण साकार भगवान् की ही भक्ति करते थे और दाशरथि राम को ही सर्वोपरि समझते थे।' इसके अध्ययन से दूरीभूत होकर सरलतम रूप से समझ में आ जाता है कि गोस्वामी तुलसीदास जी भगवान् के सगुण-निर्गुण और इन दोनों रूपों के परे शुद्ध आत्मस्वरूप के भी ज्ञाता और ध्याता थे।

(४) वेद-दर्शन-योग† — चारों वेदों से १०० मन्त्रों का सटीक संग्रह कर उसके प्रायः प्रत्येक मन्त्र पर महर्षि जी द्वारा टिप्पणी। इसके लिये आर्य-समाज के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् पं० बिहारी लाल जी शास्त्री ने अपने 'आर्य-मित्र' साप्ताहिक पत्रिका में लिखा— "महात्मा मेँहीँ परमहंस जी ने अपनी पुस्तक में सन्तों की अनुभूति और वेद का समन्वय करके कालान्तर से बिछुड़े सन्तमत और वैदिक धर्म को एक कर दिया है।"

(५) श्री गीता-योग-प्रकाश—(प्रस्तुत ग्रंथ) गीता में वर्णित भक्ति, ज्ञान और योगादि का सन्त-साधना से समन्वय।

(६) सत्संग-सुधा (महर्षि मेँहीँ वचनामृत) प्रथम एवं द्वितीय भाग—इस पुस्तक में महर्षि जी के विभिन्न स्थानों में दिये गये २६ प्रवचनों का संग्रह है। इसमें ईश्वर-स्वरूप-निर्णय, ज्ञान, भक्ति, योग, बन्ध-मोक्ष, सत्संग, सदाचार तथा सन्त साधना-पद्धति पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है।

(७) महर्षि मेँहीँ-पदावली—महर्षि जी द्वारा रचित सभी पदों का एक साथ संग्रह है।

---

† इसके टीकाकार हैं—पं० जयदेव शर्म्मा, विद्यालंकार, मीमांसा-तीर्थ, (आर्य साहित्य मंडल, लिमिटेड, अजमेर)।

(८) मोक्ष-दर्शन—परमात्मा, ब्रह्म, ईश्वर, जीव, प्रकृति माया, बन्ध-मोक्षधर्म वा सन्तमत की उपयोगिता परमात्म-भक्ति और अन्तर-साधना का सारांश साफ-साफ समझ में आ जाय—इस पुस्तक के लिखने में महर्षि जी का यही उद्देश्य है।

(९) घट रामायण-पदावली—हाथरस निवासी तुलसी साहब कृत ग्रंथ के कुछ पद्यों का चयन कर उनके अर्थ और उनकी व्याख्या कर उनके ही आधार पर महर्षि जी ने बताया है कि परम प्रभु सर्वेश्वर को अपने घट में कहाँ और कैसे पाया जा सकता है।

(१०) विनय पत्रिका-सार सटीक—इस ग्रन्थ में गोस्वामी तुलसीदास कृत विनय पत्रिका के कतिपय चुने हुए पद्य, उसके अर्थ, उसकी व्याख्या और तत्सम्बन्धी महर्षि जी के विचार भी हैं।

(११) ईश्वर-स्वरूप और उसकी प्राप्ति—ईश्वर स्वरूपतः क्या है और उसकी प्राप्ति कैसे होती है, इसका साररूप में वर्णन।

(१२) ज्ञान-योग-युक्त ईश्वर-भक्ति—इस छोटी-सी पुस्तिका में महर्षि जी ने मोक्ष-साधन की पूर्णता के लिये ज्ञान, योग और भक्ति—इन तीनों की एक साथ अनिवार्य आवश्यकता बतलाई है।

सत्संग की सुचारु एवं सुव्यवस्थित ढंग से दिनानुदिन अभिवृद्धि हो, इसके लिये सिकलीगढ़ धरहरा (बनमनखी, पुरैनियाँ, बिहार) में श्री संतमत-सत्संग-मंदिर का सर्वप्रथम निर्माण किया गया। तदुपरान्त आज, विभिन्न स्थानों में सैकड़ों सत्संग-मंदिरों के निर्माण हो चुके हैं और नव-निर्माण होते ही जा रहे हैं। इनके द्वारा सभी जाति एवं सभी धर्म के असंख्य नर-नारी स्वावलम्बी जीवन-यापन करने, सुचरित्र-निर्माण करने तथा परमात्म-भजन कर उभय लोक बनाने की शिक्षा पाती हैं।

जैसे दूध में घृत और माता के उपदेश में बालक का हित भरा होता है, वैसे ही आपके ज्ञानोपदेश में मानव का कितना कल्याण निहित है, कहा नहीं जा सकता। आपके विचार, प्रचार और

सिद्धान्त से किसी भी धर्म, मजहब और सम्प्रदाय के सार सिद्धान्त का खण्डन नहीं होता, वरं आपका दृढ़ सिद्धान्त है कि सभी सन्तों का एक ही मत है। आपके पूर्व से ही जैसे सन्त दादू दयाल जी आपके वाक्यों का समर्थन करते रहे हों—

"जे पहुँचे ते कहि गये, तिनकी एकै बाति।
सबै सयाने एक मत, तिनकी एकै जाति॥"

और यदि आपके शब्दों में कहना चाहेंगे, तो हम कह सकेंगे— "भिन्न-भिन्न काल तथा देशों में सन्तों के प्रकट होने के कारण तथा इनके भिन्न-भिन्न नामों पर इनके अनुयायियों द्वारा संतमत के भिन्न-भिन्न नामकरण होने के कारण सन्तों के मत में पृथकत्व ज्ञात होता है, परन्तु यदि मोटी और बाहरी बातों को तथा पंथाई भावों को हटा कर विचारा जाय और सन्तों के मूल एवं सार विचारों को ग्रहण किया जाय, तो यही सिद्ध होगा कि सब सन्तों का एक ही मत है।"

आपके तत्त्वावधान में प्रति वर्ष अखिल भारतीय सन्तमत-सत्संग का वार्षिक अधिवेशन विभिन्न प्रान्तों के विभिन्न जिलों में हुआ करता है। इसमें जैन, बौद्ध, सिक्ख, ईसाई, इस्लाम और वैदिक धर्मावलम्बियों एवं सभी जातियों—सम्प्रदायों के सहस्रों नारि-नर एकत्रित हो आपके वचनामृत से लाभान्वित होते हैं। इसके व्यतिरिक्त आपके द्वारा प्रचालित अखिल भारतीय संतमत-सत्सङ्ग का विशेषाधिवेशन, मासिकाधिवेशन, साप्ताहिक, दैनिक, दिन में दो और तीन बार भी सत्संग-प्रचार का प्रकार अव्याहत रूप से हो रहा है। इसके अतिरिक्त दैनिक त्रैकालिक ध्यान-साधना का वैयक्तिक क्रम तो निर्बाध रूप से चलता ही है। फिर भी साधकों की ध्यान-साधना में विशेष प्रगति लाने के लिये आप अपने तत्त्वावधान में सप्ताह, अर्द्धमास और मास-ध्यान साधना भी सामूहिक रूप से करवाते हैं।

मात्र अध्यात्म-ज्ञान-द्वारा ही आपने देश-सेवा में हाथ बँटाया हो, ऐसा नहीं। राजनैतिक क्षेत्र में भी, प्रकट और अप्रकट रूप से आपने कम सेवा नहीं की। अपने देश को स्वतन्त्र बनाने में आपने जो योगदान दिया, वह अवर्णनीय है। हाल में ही जब चीनियों ने अपने देश (भारत) पर आक्रमण किया, तो आपने बिहार राज्य सुरक्षा-कोष में एक मुस्त दान दिया और आज भी आप प्रतिमास नियमित रूप से उक्त सुरक्षा-कोष में दान देते चले आ रहे हैं।

इतना ही नहीं, इस अस्सी वर्ष की जर्जर वृद्धावस्था में भी आपने आत्म-विश्वास की ओजस्वी भाषा में जो अपनी उद्घोष-वाणी विश्व को सुनाई है, उससे प्रत्यक्ष है कि आपमें अपने स्वतन्त्र देश का कितना गौरव और कितनी देश-भक्ति है। वह अभय वाणी है—"आज या कल कभी-न-कभी इस शरीर का नाश हो जाना ध्रुव निश्चित है। किन्तु लोक-कल्याणकारी कार्य में इस शरीर का बलि हो जाना अति श्रेयस्कर है। मैं बूढ़ा हो गया हूँ, हाथ-पैर काँपते हैं, फिर भी देश-रक्षा के निमित्त सरकार मुझे युद्ध में जाने के लिये कहे, तो मैं सहर्ष जाने के लिये तैयार हूँ। देश-रक्षार्थ युद्ध के लिये अपने देश के किसी भी व्यक्ति को मुँह नहीं मोड़ना चाहिये। यह अनिवार्य हिंसा है, जैसे कृषकों के लिये कृषि-कर्म की हिंसा। नवजवानों को साहसी, निरालस और पुरुषार्थी होना चाहिये। और सभी देशवासियों को तन, मन और धन से सतत् सरकार की सहायता के लिये तत्पर, सावधान और क्रियाशील रहना चाहिये, जिससे देश का यह संकट शीघ्र टल जाय।"

—शान्ति-सन्देश, मासिक पत्रिका का अक्टूबर (१९६२) अंक।

महर्षि में्हीँ आश्रम
कुप्पाघाट, भागलपुर-३ (बिहार)
रक्षा-बंधन सं० २०२० वि०

'सन्तसेवी'

भूमिका

भारत के एक वृहत् ग्रन्थ का नाम 'महाभारत' है। कहा जाता है कि विश्व-साहित्य-भण्डार के पद्यबद्ध-ग्रन्थों में यह सबसे विशेष स्थूलकाय है। यह केवल भारत ही नहीं वरंच सम्पूर्ण विश्व में सुविख्यात है।

यह ग्रन्थ अठारह भागों में विभक्त है। इसके प्रत्येक भाग को 'पर्व्व' कहते हैं। इन अठारह पर्व्वों में से एक का नाम 'भीष्म पर्व्व' है। इस भीष्मपर्व्व के एक छोटे से भाग का नाम 'श्रीमद्भगवद्गीता' है। श्रीमद्भगवद्गीता का अर्थ भगवान् श्री कृष्ण-द्वारा गाया हुआ गीत है। इसलिये इसकी पद्यात्मक भाषा में तार (टेलीफोन)-द्वारा भेजे गये सन्देश की सी संक्षिप्तता है। इसमें केवल ७०० श्लोक हैं तथा सब मिलाकर ९४५६ शब्द हैं।

नौ हजार चार सौ छप्पन पद्यबद्ध-शब्दों में उपनिषदों का सारांश आ गया है। इसीलिये इस पुस्तिका की बड़ी महत्ता है। यह तेजस्विनी पुस्तिका भारत की अध्यात्म-विद्या की सबसे बड़ी देन है।

भारत आदि काल से ही अध्यात्म ज्ञान एवं योगविद्या का देश रहा है। इस विद्या के कोई गुरु कहीं बाहर से आकर यहाँ वालों को अध्यात्म-ज्ञान एवं योगविद्या की शिक्षा-दीक्षा दे गये हों—ऐसा एक भी उदाहरण भारत के हजारों साल लम्बे इतिहास में नहीं मिलता। उपर्युक्त विद्याओं के गुरु समय-समय पर इसी देश में उत्पन्न होते रहे हैं।

पहले की बात तो जाने दीजिये, हजार साल की परतंत्रता से दीनापन्न भारत में भी इन विद्याओं के जानकार पूर्ववत् होते रहे हैं।

भारत के स्वतंत्र होने के कुछ साल पूर्व श्री पाल ब्रन्टन नाम के प्रतिष्ठित अंगरेज महाशय योग-विद्याओं के जानकारों की खोज में यहाँ आये और कुछ ही महीने ठहरकर वे जो कुछ जान पाये, उसीसे सन्तुष्ट होकर अपने देश को लौट गये।

इस देश को सर्वाधिक गौरव उपर्युक्त विद्याओं पर है और इन विद्याओं को श्रीमद्भगवद्गीता पर गौरव है।

इसलिये भारत के बड़े-बड़े साधक-आचार्य्य श्रीमद्भगवद्गीता का सहारा लेकर ज्ञान-प्रचार-द्वारा भारत एवं विश्व का कल्याण करते रहे हैं। परिणामस्वरूप भारत-वन्द्या यह पुस्तिका अब विश्व-वन्द्या हो चुकी है। विश्व की सभी समुन्नत भाषाओं में आये दिन इसके अनुवाद निकलते ही रहते हैं। अतएव जगद्गुरु भारत के प्रत्येक नागरिक का यह नैतिक उत्तरदायित्व है कि वह इस ग्रंथ का सही तात्पर्य्य स्वयं समझे और अन्यों को समझावे।

इस उत्तरदायित्व के निवाहने में तनिक भी प्रमाद, असावधानी या भ्रम, न केवल भारत, बल्कि विश्व की आध्यात्मिक उन्नति के लिये घातक है।

अब प्रश्न यह है कि गीता का सही तात्पर्य क्या है? ऐहिक एवं पारमार्थिक कल्याण साथ-साथ करते हुए मनुष्य कैसे समता प्राप्त करे और किस तरह कर्म्म करता हुआ समाधिस्थ हो स्थितप्रज्ञता तक पहुँच सके, इसी के साधन इस शास्त्र में बहुत ही युक्तियुक्त रीति से बतलाये गये हैं। इस साधन की पूर्णता के लिये योग का अभ्यास अत्यावश्यक है। यहाँ 'योग' शब्द की सफाई में कुछ कह देना आवश्यक है। गीता के अठारह अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय के साथ 'योग' शब्द लगा हुआ है; जैसे—अर्जुन-विषादयोग, सांख्ययोग, कर्म्मयोग इत्यादि। इससे गीता के पाठकों को ज्ञात होता है कि इसमें केवल योग ही योग है।

स्मरण रखने की बात यह है कि गीता में केवल योग की ही बात नहीं है, बल्कि कैसे बैठना चाहिये, कितना खाना चाहिये और कितना सोना चाहिये आदि बातें भी दे दी गई हैं।

यहाँ निवेदन यह है कि गीता में 'योग' शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है।

पहले तो 'योग' सुनते ही 'पातञ्जलयोग-दर्शन' के योग का स्वरूप विचार में आने लगता है। चित्त-वृत्ति के निरोध को महर्षि पतञ्जलि 'योग' कहते हैं। चित्तवृत्ति-निरोध के अर्थ में 'योग' शब्द गीता में आया है, मगर उसके और दूसरे-दूसरे अर्थ भी हैं। जैसे—अर्जुन-विषाद्‌योग।

यहाँ 'योग' शब्द का अर्थ 'युक्त होना' है। अर्जुन 'विषाद-युक्त' हुआ, इसी का वर्णन प्रथम अध्याय में है—इसीलिये उस अध्याय का नाम 'विषादयोग' हुआ। जिस विषय का वर्णन करके श्रोता को उससे युक्त किया गया, उसको तत्सम्बन्धी योग कहकर घोषित किया गया।

अध्याय २ के श्लोक ४८ में कहा गया है—'समत्वं योग उच्यते'—अर्थात् समता का ही नाम 'योग' है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ 'योग' शब्द का अर्थ समता है।

पुनः उसी अध्याय के श्लोक ५० में कहा गया है—"योगः कर्म्मसु कौशलम्"—अर्थात् कर्म्म करने की कुशलता या चतुराई को योग कहते हैं। यहाँ 'योग' शब्द उपर्युक्त अर्थों से भिन्न, एक तीसरे ही अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

अतएव गीता के तात्पर्य को अच्छी तरह समझने के लिये 'योग' शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थों को ध्यान में रखना चाहिये।

गीता स्थितप्रज्ञता को सर्वोच्च योग्यता कहती है और उसकी प्राप्ति का मार्ग बतलाती है।

स्थितप्रज्ञता बिना समाधि के सम्भव नहीं है। इसीलिये गीता के सभी साधनों के लक्ष्य को समाधि कहना अयुक्त नहीं है।

इन साधनों में समत्व-प्राप्ति को बहुत ही आवश्यक बतलाया गया है। समत्व-बुद्धि की तुलना में केवल कर्म्म बहुत तुच्छ है (गीता २।४९) इसलिये समतायुक्त होकर कर्म्म करने को कर्म्म-योग कहा गया है। यही 'योगःकर्म्मसु कौशलम्' है। अर्थात् कर्म करने की कुशलता को योग कहते हैं। कर्म्म करने का कौशल यह कि कर्म्म तो किया जाय, परन्तु उसका बन्धन न लगने पावे। यह समता पर निर्भर करता है।

गीता न सांसारिक कर्त्तव्यों के करने से हटाती है और न कर्म्म-बन्धन में रखती है।

समत्व-योग प्राप्त कर, स्थितप्रज्ञ बन, कर्म्म करने की कुशलता या चतुराई में दृढ़ारूढ़ रह, कर्त्तव्य कर्मों के पालन करने का उपदेश गीता देती है।

समत्व-प्राप्त स्थितप्रज्ञ पुरुष कर्म्म करने में कुशल,सांसारिक कर्म्मों में फल-आश-भाव से असंग रहता हुआ,कर्म्म-बंधन-रहित होकर उन कर्म्मों को जीवन-भर करे और इस तरह जीवन्मुक्त बन जाय—यही 'कर्म्मयोग' गीता सिखलाती है।

गीता-ज्ञानानुकूल कर्म्म-योगी के लिये समत्व और स्थित-प्रज्ञता अत्यन्त आवश्यक बतलाये गये हैं। ये दोनों समाधि-साधन में ही प्राप्त होते हैं। (गीता २।५३ से) यही विदित होता है तथा गीता अध्याय २, श्लोक ५४ में तो समाधिस्थ और स्थितप्रज्ञ का कथन निर्भेद भाव में किया गया है।

पहले ही कहा जा चुका है कि गीता में बतलाये गये तमाम साधनों का अन्तिम लक्ष्य समाधि है।

समाधि-साधन के लिये जिन योगों की आवश्यकता है, उन सबका समावेश गीता में है। गीताशास्त्र के ज्ञानयोग, ध्यानयोग प्राणायामयोग, जपयोग, भक्तियोग, कर्म्मयोग आदि सभी योगों की भरपूर उपादेयता है। सब एक दूसरे से सम्बद्ध हैं और इस तरह सम्बद्ध हैं—जैसे माला की मणिकाएँ।

अब अगर कोई कहें कि अमुक योग के अभ्यास करने का युग नहीं है, तो मानना पड़ेगा कि उनकी यह कथनी गीतोपदेश के विरुद्ध है।

अन्य कोई कहे तो कहे, मगर कहने वाला यदि भारत के उत्तम पुरुषों में से कोई हों और भारत के अध्यात्म-जगत् की सर्वोत्तम उपाधि से विभूषित हों—यानी 'सन्त' कहलाते हों—तो स्थिति और गम्भीर हो जाती है। ये सन्त यदि कहें कि "मेरे जीवन में गीता ने जो स्थान पाया है, उसका मैं शब्दों में वर्णन नहीं कर सकता हूँ। गीता का मुझ पर अनन्त उपकार है। "..................मेरा शरीर माँ के दूध पर जितना पला है, उससे कहीं अधिक मेरा हृदय व बुद्धि दोनों गीता से पोषित हुए हैं। "..................मैं प्रायः गीता के ही वातावरण में रहता हूँ, गीता यानी मेरा प्राण तत्त्व।" और फिर वही अगर कहें कि "अब ध्यानयोग-अभ्यास करने का युग नहीं है।" तो स्थिति गम्भीरतम हो जाती है। और यही विदित होता है कि देश का अमंगलकाल ही चला आया है।

किसी को नहीं चाहिये कि कर्म्मयोगी बनते हुए कर्म्मयोग का तो वे गुणगान करें और ध्यानयोग को आधुनिक काल के लिये अव्यावहारिक बताकर जन-साधारण को उससे विमुख करें।

गीतोक्त ज्ञान जन-साधारण के लिये ही है। साधारणतया यह मान लिया गया है कि गीता साधु-संन्यासियों के व्यवहार की चीज है; किन्तु स्वयम् गीता सबको गीता-ज्ञान का अधिकारी

मानती है। यहाँ सवर्ण, अवर्ण, स्त्री, शूद्र, पापी और दुराचारी; सभी के लिये गीता-गंगा का जल-रूपी उपदेश, समान रूप से सुलभ है। (गीता अध्याय ९, श्लोक ३० से ३२ तक)।

यहाँ उपदेश और उपदेष्टा (गुरु) के लिये कुछ कहना आवश्यक प्रतीत होता है; क्योंकि कुछ ऐसे भी सज्जन हैं, जिनका मत है कि अध्यात्म-साधन के लिये गुरु की कोई आवश्यकता नहीं, परमात्मा ही एकमात्र गुरु हैं।

उनसे मेरा निवेदन है कि ऐसे विचार गीता एवं भारतीय अध्यात्म-विद्या की शिक्षा-परम्परा के सर्वथा विरुद्ध हैं। गीता के चौथे अध्याय में लिखा है—

"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥"

तत्त्व को जानने वाले ज्ञानी पुरुषों से, भली प्रकार दण्डवत् प्रणाम तथा सेवा और निष्कपट भाव से किये हुए प्रश्न-द्वारा उस ज्ञान को जान; वे कर्म को जानने वाले ज्ञानीजन तुझे उस ज्ञान का उपदेश करेंगे।

अध्याय १३ में है—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥७॥

अमानित्व (मान का अभाव), अदंभित्व (दंभ का अभाव), अहिंसा, क्षमा, सरलता, आचार्य (गुरु) की सेवा, शुद्धता, स्थिरता, आत्मसंयम..................यह सब ज्ञान कहलाता है। इससे जो उलटा है, वह अज्ञान है।

"देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥"

(गीता अध्याय १७, श्लोक १४)

देव, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानी की पूजा, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शारीरिक तप कहलाता है।

हमारे यहाँ उपनिषदादि ग्रन्थ से लेकर भगवान् बुद्ध, भगवान् शंकराचार्य, महायोगी श्री गोरखनाथ जी, सन्त कबीर साहब, गुरु नानक साहब, गोस्वामी तुलसीदास जी इत्यादि अर्वाचीन साधु पुरुषों तक गुरु और उनके महत्त्व की मान्यता अव्याहत रूप से चली आ रही है। यहाँ तद्विषयक प्रमाणार्थ कुछ उपनिषद् एवं सन्तवाणियों को उद्धृत किया जाता है।

"तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।."

(मुण्डकोपनिषद् १ । २ । १२)

जिज्ञासु को परमात्मा का वास्तविक तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के लिये हाथ में समिधा लेकर श्रद्धा और विनय-भाव के सहित ऐसे सद्गुरु की शरण मे जाना चाहिये, जो वेदों के रहस्य को भली भाँति जानते हों और परब्रह्म परमात्मा में स्थित हों।

"·······इति शुश्रुम धीराणाम् येनस्तद्विचचक्षिरे।"

(ईशोपनिषद्)

इस प्रकार हमने उन परम ज्ञानी महापुरुषों से सुना है, जिन्होंने हमें यह विषय पृथक्-पृथक् रूप से व्याख्या करके भली भाँति समझाया था।

त्रिपाद्विभूति महानारायणोपनिषद् में—

"शान्तो दान्तोऽतिविरक्तः सुशुद्धो गुरुभक्तस्तपोनिष्ठः शिष्यो ब्रह्मनिष्ठं गुरुमासाद्य प्रदक्षिणपूर्वकं दण्डवत्प्रणम्य प्राञ्जलिर्भूत्वा। विनयेनोपसङ्गम्य भगवन् गुरो मे परमतत्त्वं रहस्यं विविच्यवक्तव्य-मिति।"

शान्त, दमनशील, अति विरक्त, अति शुद्ध, गुरुभक्त, तपोनिष्ठ शिष्य ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाकर प्रदक्षिणा और दण्डवत् प्रणाम

करके हाथ जोड़ कर नम्रता के साथ कहे—हे भगवन् मेरे गुरु! परम तत्त्व-रहस्य विवेचन के साथ मुझे बतलाइये।

महोपनिषद् में—

"दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम्।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां बिना ॥७७॥"

सद्गुरु की दया के बिना विषय-त्याग दुर्लभ है, तत्त्वदर्शन दुर्लभ है और सहजावस्था दुर्लभ है।

योगशिखोपनिषद् के पांचवे अध्याय में—

"गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुदेवः सदाशिवः।
न गुरोरधिकः कश्चिन्त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥५६॥
दिव्यज्ञानोपदेष्टारं देशिकं परमेश्वरम्।
पूजयेत्परया भक्त्या तस्य ज्ञानफलं भवेत् ॥५७॥
यथा गुरुस्तथैवेशो यथैवेशस्तथा गुरुः।
पूजनीयो महाभक्त्या न भेदो विद्यतेऽनयोः ॥५८॥"

गुरुदेव ही ब्रह्मा, विष्णु और सदाशिव हैं। तीनों लोकों में गुरु से बढ़कर कोई नहीं है। दिव्य ज्ञान के उपदेश देने वाले उपस्थित प्रत्यक्ष परमेश्वर की भक्ति के साथ उपासना करे, तब वह (शिष्य) ज्ञान का फल प्राप्त करेगा। जैसे गुरु हैं, वैसे ही ईश हैं, जैसे ईश हैं, वैसे ही गुरु हैं; इन दोनों में भेद नहीं है, इस भावना से पूजा करे।

"कर्णधारं गुरुं प्राप्य तद्वाक्यं प्लववद्दृढम्।
अभ्यासवासनाशक्त्या तरन्ति भवसागरम् ॥७९॥"

(योगशिखोपनिषद्, अध्याय ६)

गुरु को कर्णधार (मल्लाह) पाकर और उनके वाक्य को दृढ़ नौका पाकर अभ्यास (करने की) वासना की शक्ति से भवसागर को लोग पार करते हैं।

"देहस्थाः सर्व्वविद्याश्च देहस्थाः सर्व्वदेवताः ।
देहस्थाः सर्व्वतीर्थानि गुरुवाक्येन लभ्यते ॥८॥"
(ज्ञानसंकलिनीतंत्र)

इस देह में सब विद्या, सब देवता और सब तीर्थ विराजमान हैं। केवल गुरु के उपदेश से ही देहस्थित ये सब विद्या, देवता और तीर्थ जाने जाते हैं।

हम पहले ही कह आये हैं कि गीता में उपनिषदों का सार है एवं इसकी भाषा में तार-सन्देश की-सी संक्षिप्तता है। इसलिये गीता गुरु-सम्बधी उपयुक्त विचारों को एक श्लोक में दे देती है।

"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ गी० ४।३४॥"

इसे तू तत्त्व को जानने वाले ज्ञानियों की सेवा करके और नम्रतापूर्वक विवेक-सहित बारम्बार प्रश्न करके जानना। वे तेरी जिज्ञासा तृप्त करेंगे।

तथा गुरु और ज्ञानी की पूजा करने को गीता शारीरिक तप की संज्ञा देती है। (गीता १७। १४)

महाभारत शान्तिपर्व्व उत्तरार्द्ध मोक्षधर्म्म, अध्याय ११४; में लिखा है—"भीष्म जी बोले कि ईश्वर में चित्त लगाकर गुरु की पूजा और आचार्य्यों का सदैव पूजन करे। गुरु आदि से शास्त्रों को सुनना, तदन्तर शुद्धब्रह्म से सम्बन्ध रखने वाला कल्याण कहा जाता है।

सन्तों ने भी इन्हीं विचारों को अपने-अपने स्वयं-सिद्ध शब्दों में दुहराये हैं।

"यम्हा धम्मं विजानेय्य सम्मासम्बुद्धदेसितं।
सक्कच्चं नं नमस्सेय्य अङ्गिहुतं व ब्राह्मणो ॥१०॥"
('धम्मपद' ब्राह्मण वग्गो—३९२)

मनुष्य जिससे बुद्ध का बताया हुआ धर्म्म सीखे तो उसे उसकी परिश्रम से सेवा करनी चाहिये, जैसे ब्राह्मण यज्ञ-अग्नि की पूजा करता है।

"गुरु चरणाम्बुज निर्भरभक्तः संसारादचिराद्भव मुक्तः।"

(भगवान् शंकराचार्य्य)

"सप्तधातु का काया प्यंजरा ता माँहि 'जुगति' बिन सूवा।
सतगुरु मिलै त उबरै बाबू नहिं तौ परलै हूवा॥"

(महायोगी गोरखनाथजी)

"बिन सतगुरु उपदेश, सुर-नर मुनि नहिं निस्तरै।
ब्रह्मा विष्णु महेश, औ सकल जिव को गिनै॥"

"गुरुदेव बिन जीव की कल्पना ना मिटै,
गुरुदेव बिन जीव का भला नाहीं।
गुरुदेव बिन जीव का तिमिर नासै नहीं, समुझि विचारि ले मने माहीं।
राह बारीक गुरुदेव तें पाइये, जनम अनेक की अटक खोलै।
कहै कबीर गुरुदेव पूरन मिलै, जीव और सीव तब एक तोलै।"

"गुरु हैं बड़े गोविन्द तें, मनमें देखु विचार।
हरि सुमिरै सो वार है, गुरु सुमिरै सो पार॥"

"गुरु मिलि ताके खुले कपाट। बहुरि न आवै योनी बाट॥"

"गुरु साहिब करि जानिये, रहिये सबद समाय।
मिलै तो दंडवत बन्दगी, पल-पल ध्यान लगाय॥"

(कबीर साहब)

"गुरु की मूरति मन महि धिआनु। गुरु कै सबदि मंत्र मनुमानु॥
गुरु के चरण रिदै लै धारउ। गुरु पारब्रह्म सदा नमसकारउ॥१॥

मत को भरमि भूलै संसारि । गुरु बिनु कोई न उतरसि पारि ॥
भूलै कउ गुरि मारगि पाइआ । अवरि तिआगि हरि भगती लाइआ ॥
जनम-मरण की त्रास मिटाई । गुर पूरे की बे अन्त बड़ाई ॥२॥
गुर प्रसादि उरध कमल बिगास । अंधकार महि भइआ प्रगास ॥
जिनि कीया सो गुरते जानिआ । गुरु किरपा ते मुगधु मनु मानिआ । ३॥
गुरु करता गुरु करणे जोगु । गुरु परमेसुर है भी होगु ॥
कहु नानक प्रभि इहै जनाई । बिन गुरु मुकति न पाइअै भाई ॥४॥"

(गुरु नानक)

"गुरु बिनु भवनिधि तरइ न कोई । जौं विरञ्चि सङ्कर सम होई ॥"

"बिनु गुरु होइ कि ज्ञान, ज्ञान कि होइ विराग बिनु ।
गावहिं वेद पुरान, सुख कि लहिय हरि भगति बिनु ॥"
"गुरु पद पङ्कज सेवा, तीसरि भगति अमान ।"
"श्री हरि गुरुपद कमल भजहिं मन तजि अभिमान ।
जेहि सेवत पाइय हरि सुख निधान भगवान ॥"

(गोस्वामी तुलसीदास जी)

"गुरु बिनु ऐसी कौन करै ।
माला तिलक मनोहर बाना, लै सिर छत्र धरै ॥
भवसागर से बूड़त राखै, दीपक हाथ धरै ।
सूर श्याम गुरु ऐसो समरथ, छिंन में लै उधरै ॥"

(भक्त सूरदास जी)

"सतगुरु सिकलीगर मिलें, तब छुटै पुराना दाग ॥
छुटै पुराना दाग गड़ा मन मुरचा माहीं ।
सतगुरु पूरे बिना दाग यह छूटै नाहीं ॥

झांवां लेवैं जोग तेग को मलैं बनाई।
जौहर देय निकार सुरत को रंद चलाई॥
शब्द मस्कला करै ज्ञान का कुरंड लगावै।
जोग जुगत से मलै दाग तब मन का जावै॥
पलटू सैफ को साफ करि बाढ़ धरै बैराग।
सतगुरु सिकलीगर मिलैं तब छुटै पुराना दाग॥"

(पलटू साहब)

"गुरु बिन ज्ञान नाँहि, गुरु बिन ध्यान नाँहि।
गुरु बिन आतम, विचार न लहतु है॥
गुरु बिन प्रेम नाँहि, गुरु बिन नेम नाँहि।
गुरु बिन सीलहु, सन्तोष न गहतु है॥
गुरु बिन प्यास नाँहि, बुद्धि को प्रकाश नहीं।
भ्रमहू को नास नाँहि, संसेह रहतु है॥
गुरु बिन बाट नाँहि, कौड़ी बिन हाट नाँहि।
सुन्दर प्रगट लोक, बेद यों कहतु है॥१५॥"

(सुन्दर दास जी)

इसी आशय की उक्तियाँ और भी सन्तों की हैं, जो बाहुल्यता एवं पुस्तक-वृद्धि के कारण यहाँ नहीं दी जा रही हैं।

किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि जिस किसी को भी गुरु बना लिया जाय। इस मामले में अधिक सावधानी, खोज और सोच-विचार की आवश्यकता है। सन्त चरण दास जी कहते हैं—

"समझ रस कोइक पावै हो।
गुरु बिन तपन बुझै नहीं, प्यासा नर जावै हो॥१॥

बहुत मनुष ढूंढ़त फिरें, अन्धरे गुरु सेवैं हो।
उनहूं को सूझै नहीं, औरन कहं देवें हो ॥१॥
अन्धरे को अन्धरा मिलै, नारी को नारी हो।
ह्वां फल कैसे होयगा, समझै न अनारी हो ॥३॥
गुरु सिष दोऊ एक से, एकै व्यवहारा हो।
गये भरोसे डूबि कै, वै नरक मंझारा हो ॥४॥
सुकदेव कहैं चरण दास सूं, इनका मत कूरा हो।
ज्ञान मुक्ति जब पाइये, मिलै सतगुरु पूरा हो ॥५॥"

(चरणदास जी)

"गुरु सिष अन्ध बधिर कर लेखा। एक न सुनइ एक नहिं देखा॥
हरइ सिष्य धन सोक न हरई। सो गुरु घोर नरक महं परई॥"

(गोस्वामी तुलसीदास जी)

महात्मा गांधी जी की उक्ति इस सम्बन्ध में इस तरह है— "हिन्दू धर्म में गुरु-पद को जो महत्त्व दिया गया उसे मैं मानता हूं। गुरु बिन होइ न ज्ञान' यह वचन बहुतांश में सच है। अक्षर-ज्ञान देने वाला शिक्षक यदि अधकचरा हो तो एक बार का काम चल सकता है, परन्तु आत्म-दर्शन कराने वाले अधूरे शिक्षक से हरगिज काम नहीं चलाया जा सकता है। सफलता गुरु की खोज में ही है; क्योंकि गुरु शिष्य की योग्यता के अनुसार ही मिला करते हैं। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक साधक को योग्यता-प्राप्ति के लिये प्रयत्न करने का पूरा-पूरा अधिकार है। परन्तु इस प्रयत्न का फल ईश्वराधीन है।

(आत्मकथा महात्मा गांधी, भाग २, अध्याय १, पृष्ठ ६२, नवींवार, सन् १९४८।)

महाभारत, तंत्रशास्त्र एवं सन्तवाणी के निम्न उद्धरणों में तो यह स्पष्ट ही कहा गया है कि यदि किसी ने अपनी अनभिज्ञता के कारण किसी अयोग्य गुरु को धारण कर लिया हो, तो वैसे गुरु का अविलम्ब त्याग कर दे।

"गव्वित कार्य्य अकार्य्य नहिं, जानत चलत कुपंथ।
ऐसे गुरु कहं त्यागिये, यही कहत शुभ ग्रन्थ॥"
(महाभारत उद्योगपर्व अध्याय १८०, श्लोक २५)

"ज्ञानान्मोक्षमवाप्नोति तस्माज्ज्ञानं परात्परम्।
अतो यो ज्ञानदानेहि न क्षमस्तं त्यजेद् गुरुम्॥"
(वृहत्तन्त्रसार)

ज्ञान से मोक्ष होता है, इसलिये ज्ञान से बढ़कर दूसरा उपदेश नहीं है; इसलिये जो गुरु ज्ञान-दान में (अर्थात् ज्ञानोपदेश में) समर्थ (योग्य) नहीं है, ऐसे गुरु को छोड़ देना चाहिये।

"झूठे गुरु के पक्ष को, तजत न कीजै बार।
द्वार न पावै शब्द का, भटकै बारम्बार॥"
(कबीर साहब)

इस विषय की विशेष जानकारी के लिये 'सत्संग योग' (चारों भाग) को पढ़ें।

विशेष रूप से याद रखने की बात यह है कि गीता परम-रहस्यमयी पुस्तिका है। इसकी गुप्त योग-रहस्य-निधियों पर भी प्रकाश डालने के लिये 'श्री गीता-योग-प्रकाश' लिखा गया है। उपर्युक्त दृष्टिकोणों से गीतार्थ के भाव आवश्यकतानुकूल लिखे गये हैं।

'गीता-योग-प्रकाश' सब श्लोकों के अर्थ वा उनकी टीकाओं की पुस्तिका नहीं है। गीता के सही तात्पर्य को समझने के लिये जो दृष्टिकोण चाहिये; वही इसमें दरसाया गया है।

गीता के बारे में फैले हुए सैकड़ों भ्रामक-विचारों में से एक का भी निराकरण यदि 'गीता-योग-प्रकाश' से हुआ, तो मैं अपना प्रयत्न सफल समझूँगा।

पाण्डुलिपि की प्रतिलिपि शुद्धतापूर्वक तैयार करने में, शोध्यपत्र (प्रूफ) देखने में तथा पुस्तक-प्रस्तुत होने के अन्यान्य कार्य्यों में जिन सत्संगियों ने परिश्रम किया है, वे सभी धन्यवाद के पात्र हैं।

महर्षि मेँहीँ आश्रम
कुप्पाघाट, भागलपुर-३ (बिहार)
विजया दशमी, सं० २०२० वि०

सत्संग-सेवक—
मेँहीँ

॥*॥ श्रीसद्गुरवे नमः ॥*॥

श्री गीता-योग-प्रकाश

अध्याय—१

अथ अर्जुनविषादयोग

इस अध्याय का विषय विषादयोग है।

आज से पाँच हजार वर्ष से भी कुछ अधिक काल पूर्व भगवान् श्रीकृष्ण का अवतार इस भारत के धरातल पर हुआ था, ऐसा लोग कहते हैं। उन्हीं के समय में कौरव वंशीय राजाओं के बीच एक भयंकर गृह-युद्ध हुआ था। ये राजा लोग कौरव और पाण्डव कहलाते थे।

भगवान् श्रीकृष्ण ने उस युद्ध में पाण्डव अर्जुन के सारथ्य का भार अपने ऊपर लिया था। राजा दुर्योधन आदि कौरवों के पिता राजा धृतराष्ट्र वृद्ध तथा अन्ध थे। वह रणक्षेत्र नहीं गये थे, अपने घर में ही रह कर युद्ध का समाचार सुनने की इच्छा रखते थे। इसलिये उनके मन्त्री सञ्जय उनको युद्ध-समाचार सुनाया करते थे।

समाचार पूछने पर रणक्षेत्र की प्रारम्भिक बातें बता कर सञ्जय ने आगे कहा—जब दोनों ओर की सेनाएँ युद्धारम्भ के हेतु आमने-सामने खड़ी हुईं, अर्जुन ने भगवान् से प्रार्थना की—"आप मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में ले चल कर खड़ा करने की कृपा करें, जिससे मैं देख सकूँ कि मुझे किन वीरों से लड़ना है।"

भगवान् ने वैसा ही किया। अर्जुन को दोनों सेनाओं में स्वजन-सम्बन्धी ही दिखाई पड़े। यह देख वह ममताग्रस्त, दयार्द्र और विषादयुक्त हो युद्ध से विमुख हो गया।

गीता के पहले अध्याय में वर्णित अर्जुनविषादयोग का सारांश यही है। विषाद के अर्थ दुःख, क्लेश, शोक और खेद आदि हैं। रणक्षेत्र में उपर्युक्त दृश्य देख कर अर्जुन विषादयुक्त हुआ और इसी का वर्णन इस अध्याय में हुआ है। इसीलिये इस अध्याय का नाम अर्जुनविषादयोग दिया गया है। इस अध्याय के अनुकूल युक्त होना 'योग' है, यहाँ यही विदित होता है। सञ्जय ने धृतराष्ट्र को जो कुछ सुनाया, उसी का वर्णन भगवद्गीता के अठारहों अध्यायों में श्रीकृष्णार्जुन-सम्वाद के रूप में है।

॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥

अध्याय—२

अथ सांख्ययोग

इस अध्याय का विषय सांख्य और योगवाद है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—हे अर्जुन ! इस विषम समय में यह मोह तुमको कहां से आ गया ? आर्य या श्रेष्ठ पुरुषों के अयोग्य, अधोगति को ले जाने वाला तथा अपयशदायक यह मोह तुमको हुआ है। तुम पण्डित सदृश बोलते तो हो, परन्तु अकरणीय शोक करते हो।

मेरे और तुम्हारे* सहित अभी जो लोग हैं कभी नहीं थे वा भविष्य में सब के सब नहीं रहेंगे, सो नहीं है। जैसे शरीरधारी को बाल, युवा तथा बुढ़ापा अवस्थाएँ आती हैं, उसी भांति उसको दूसरे-दूसरे शरीर भी मिलते रहते हैं। सर्वव्यापी तथा सब देहों में देही आत्मा अविनाशी, पुरातन, नित्य, अव्यय, अजन्मा, न मरने वाला और न मारने वाला है। सब शरीरों में शरीरी आत्मा सब प्रकार अवध्य और अनाशी है। जैसे पुराने-पुराने वस्त्रों को छोड़-छोड़ कर नये-नये वस्त्र देह पर पहने जाते हैं, उसी भांति देहधारी पुरानी देह को छोड़ कर नई देह धारण करता है।‡ ज्ञानियों ने यह सिद्धान्त स्थिर कर दिया है कि असत् का रहना हो नहीं सकता है और सत् का नाश नहीं हो

*यहां मेरे और तुम्हारे—शरीर को नहीं बल्कि शरीरी (आत्मा) को कहा गया है।

‡जड़ शरीर चार प्रकार के हैं—(१) स्थूल, (२) सूक्ष्म (लिंग), (३) कारण और (४) महाकारण। ये एक के अन्दर एक, लिखित क्रम

सकता है। देही आत्मा सत्, सर्वव्यापी, अव्यक्त, अचिन्त्य, विकाररहित, उपाधिरहित, स्थिर, अचल और सनातन है।* परन्तु देह का नाश होना निश्चित है। जन्म लेने वालों के लिये मृत्यु और मरने वालों के लिये जन्म अनिवार्य है। अनिवार्य के लिये शोक करना उचित नहीं है। धर्म-युद्ध में युद्ध करना कर्त्तव्य-पालन करना है।‡ यदि युद्ध में मारे जाओगे तो तुम्हें स्वर्ग‡‡ मिलेगा और जीतोगे तो संसार में कीर्त्ति प्राप्त करोगे।

से हैं। साधारण मृत्यु में केवल स्थूल छूटता है। लिंग के सहित कारण और महाकारण रहते ही हैं। जैसे जीवन-काल में ऊपर स्थूल शरीर रहता है इसी भाँति साधारण मृत्यु होने पर ऊपर सूक्ष्म शरीर रहता है। और पुनर्जन्म होने पर उसी सूक्ष्म पर दूसरा नया स्थूल शरीर धारण होता है। पूर्ण योगी के सब शरीर छूट जाते हैं। अतः उनका पुनर्जन्म नहीं होता है।

*ऐसी आत्मा एक ही हो सकती है। अनेक आत्माओं में अचलता और सर्वव्यापकता का गुण नहीं हो सकता है। यदि यह कहा जाय कि असंख्य आत्माएँ सृष्टि में सर्वत्र पसरी हुई हैं, इसीलिये आत्मा सर्व-व्यापक और अनेक हैं तो बीच-बीच में अल्प अल्प भी शून्य के बिना एक से अधिक का ज्ञान नहीं हो सकता है। अतएव अनेकत्व में सर्व-व्यापकत्व नहीं हो सकता है

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्व भूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥१०॥
(कृ० य० कठो० अ० २ व० २)

अर्थः—जिस प्रकार इस लोक में प्रविष्ट हुआ वायु प्रत्येक रूप के अनुरूप हो रहा है, उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतों का एक ही अन्तरात्मा प्रत्येक रूप के अनुरूप हो रहा है और उनसे बाहर भी है।

‡यह अनिवार्य हिंसा है, जैसे कृषकों के लिये कृषिकर्म्म की हिंसा।

‡‡भगवान् यह नहीं कहते हैं कि मेरे सामने (क्योंकि युद्ध में मैं

इसलिये तुम युद्ध करो। शीत, उष्ण, सुख और दुःख आदि इन्द्रियों के विषय अनित्य हैं, इन्हें सहन करो। इनमें जो बुद्धिमान् सम रहता है, वही मोक्ष के योग्य बनता है।* समता प्राप्त किये हुए रह कर युद्ध करने से तुमको पाप नहीं लगेगा।†

सांख्य ज्ञान द्वारा इस प्रकार अर्जुन को समझा कर भगवान् ने पुनः उसे योगवाद के द्वारा निम्नोक्त रीति से समझाया।††

तुम्हारे साथ ही हूँ) युद्ध में मारे जाओगे, तो गोलोक या वैकुण्ठ जाओगे या तुम्हारी मुक्ति ही हो जायगी।

*व्यक्त रूप से भगवान्, अर्जुन को दर्शन दे ही रहे थे, परन्तु उसको समता प्राप्त नहीं थी। अतएव कहना पड़ता है कि ऐसे दर्शनों से न समता प्राप्त होती हैं, न कोई मोक्ष के योग्य होता है।

†महाभारत के स्वर्गारोहण पर्व अध्याय ३ श्लोक १७ में है—द्रौपदी सहित पाँचो भाई पाण्डव कुछ काल तक के लिये नरक में जाकर पाप के फल से छूटे थे। वस्तुतः अर्जुन ने समता प्राप्त किये बिना ही युद्ध अथवा कर्म्म किया था। केवल व्यक्त रूप के दर्शन कर पाप से नहीं छूटा जा सकता है।

††इसका कारण यह है कि योगाभ्यास के बिना मोक्षदायक पूर्ण ज्ञान नहीं होता है। इसका स्पष्टीकरण योगतत्त्वोपनिषद् और योगशिखोपनिषद् में दृढ़ता से किया गया है यथा—

"योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवति ध्रुवम्।
योगो हि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि॥
तस्माज्ज्ञानं च योगं च मुमुक्षुर्दृढमभ्यसेत्॥"

(योगतत्त्वोपनिषद्)

अर्थ—योगहीन ज्ञान कैसे मोक्षप्रद हो सकता है? (अर्थात् नहीं हो सकता) यह निश्चित है। ज्ञानहीन योग भी मोक्षकार्य में समर्थ नहीं हो सकता। अतः मुमुक्षु को चाहिये कि दृढ़ता के साथ ज्ञान और योग दोनों का अभ्यास करे।

योग के आरम्भ का नाश नहीं होता।† इस धर्म का किंचित मात्र पालन भी महाभय से बचाता है और इसका आश्रय ग्रहण करने से कर्म्म-बन्धन टूटता है। योगी की बुद्धि निश्चयात्मक, स्थिर और सम होती है। केवल कर्म्म करने में ही जीवों का अधिकार है, फलप्राप्ति में कदापि नहीं। स्वर्ग, भोग, ऐश्वर्य और कर्म्म-फल-प्राप्ति की इच्छा तथा वेद की त्रैगुण विषयक अभिलाषाओं से रहित होकर त्रैगुणातीत बनो। दुःख-सुख आदि द्वन्द्वों से अलिप्त होओ। नित्य सत्य वस्तुओं में स्थित रहो। वस्तुओं के पाने और उन्हें संभालने की झंझट से मुक्त रहो और आत्म-परायण बनो। समत्व वा समता पाने का अभ्यास करो। समत्व को ही योग कहते हैं और कर्म्म करने का कौशल वा चतुराई को भी योग कहते हैं। समत्व बुद्धि की अपेक्षा केवल कर्म्म बहुत ही तुच्छ है। अनेक वेद-वाक्यों में उलझी वा घबड़ाई

"योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवतीह भोः।
योगोपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि।
तस्माज्ज्ञानं च योगं च मुमुक्षुर्दृढमभ्यसेत्॥"
(योगशिखोपनिषद्)

अर्थ—योगहीन ज्ञान मोक्षप्रद भला कैसे हो सकता है, उसी तरह ज्ञानरहित योग भी मोक्ष-कार्य में समर्थ नहीं हो सकता। इसलिये ज्ञान और योग दोनों का दृढ़ता के साथ अभ्यास मुमुक्षु को करना चाहिये।

और गो० तुलसीदास जी ने भी कहा है—

चौ०—"धर्म ते विरति योग ते ज्ञाना।
ज्ञान मोक्ष-प्रद वेद बखाना॥"

†योगारम्भ रूप संस्कार जब से अभ्यासी के अन्दर बीज रूप से पड़ जाता है, तब से वह उसके साथ तब तक वर्त्तमान रहता है, जब तक अभ्यासी को मोक्ष और परम शान्ति न मिल जाय। इसका स्पष्टीकरण छठें अध्याय में अच्छी तरह किया गया है।

हुई बुद्धि जब समाधि वा ध्यान में स्थिर वा निश्चल होगी, तब समत्व वा समता प्राप्त होगी। जब सब कामनायें छूटती हैं, आत्मा द्वारा आत्मा में ही सन्तुष्ट रहा जाता है, तब बुद्धि की स्थिरता वा स्थितप्रज्ञता आती है।

इतना सुन अर्जुन ने भगवान् से पूछा कि स्थितप्रज्ञ के क्या लक्षण हैं तथा वह किस प्रकार बोलता, बैठता और चलता है ?

स्थितप्रज्ञ के बोलने, बैठने और चलने के विषय में किये गये प्रश्नों का कुछ भी उत्तर न देकर भगवान् ने उसके ये लक्षण बतलाये कि वह कामनाओं का त्यागी, आत्मा-द्वारा आत्मा में ही सन्तुष्ट रहने वाला, सांसारिक दुःख-सुख से दुःखी-सुखी न होने वाला, मनोविकारों से रहित और स्थिर बुद्धि वाला होता है। जैसे कछुवा अपने अंगों को अपने खोखले में समेट लेता है, उसी भाँति जो इन्द्रियों को उनके विषयों से समेट लेता है अर्थात् इन्द्रियों के अन्दर की चेतन धारों वा सुरत की धारों को उनके केन्द्र में समेट लेता है, वह स्थितप्रज्ञ वा स्थिर-बुद्धि वाला होता है।* यदि कोई भोजन छोड़े और उपवासी होकर रहे, तो विषयों की ओर से उसकी इन्द्रियों की गति मन्द पड़ती है। परन्तु विषय-रस की स्मृति और उसकी इच्छा नहीं छूटती है। ये तो परब्रह्म परमात्मा वा सर्वेश्वर के ही दर्शन से छूटती है।†

---

*इन्द्रियों में बिखरी चेतनधारों का केन्द्र आज्ञाचक्र का केन्द्र बिन्दु है। इन्द्रियों से चेतनधारों के हटने से इन्द्रियाँ विषयों में नहीं जा सकेंगी — विषयों से समेटी जायेंगी। केवल विचार ही विचार से यह सिमटाव नहीं होगा। इस अध्याय के श्लोक ५३ और ५४ में समाधि वा ध्यान की बात कही गई है। इसी के अभ्यास से वर्णित सिमटाव होता है।

†अर्जुन को व्यक्त रूप भगवान् का दर्शन और उनका गहरा संग तो था ही, परन्तु उसकी विषय-भोग की इच्छा नहीं छूटी थी। (महाभारत की कथायें पढ़ कर देखिये।)

विषय-चिन्तन से आसक्ति, आसक्ति से काम, काम से क्रोध, क्रोध से मूढ़ता, मूढ़ता से अचेतता और इससे ज्ञान का नाश हो जाता है। ज्ञान नष्ट हुआ मनुष्य मृतक के तुल्य है। वह समताविहीन, विवेकहीन और भक्तिरिक्त होता है। भक्ति बिना शान्ति नहीं और शान्ति बिना सुख कहाँ? जिस मनुष्य में सांसारिक भोग शान्त हो जाते हैं, सारी कामनायें समाप्त हो जाती हैं, ममता और अहंकार त्याग कर जो विचरण करता है, वही शान्ति पाता है। भजनाभ्यासी संयमी, भोगियों के जग कर विलास करने के समय सोता है और भोगियों के सोने के समय जग कर भजनाभ्यास करता है। पूर्व वर्णित शान्ति प्राप्त पुरुष की स्थिति ब्राह्मी स्थिति है अर्थात् परम प्रभु परमात्मा को पाकर जीवन-मुक्ति में रहने की दशा है। इसे पा जाने पर कोई मोह में नहीं फँसता है।† मृत्युकाल में भी इसी दशा में रहता हुआ शरीर त्याग कर, वह परब्रह्म परमात्मा में लय होता है और ब्रह्म-निर्वाण उसे प्राप्त होता है। इस अध्याय के उपदेशों का सार थोडे शब्दों में यह है कि प्रथम श्रवण और मनन द्वारा आत्म-ज्ञान या सांख्य-ज्ञान प्राप्त करो। उस ज्ञान में अपने को रखते हुए सांसारिक कार्यों को अलिप्तता से वा कर्म्म-फल में अनासक्त रहते हुए करते रहो। तथा समाधि योगयुक्त परमात्म-भक्ति का अभ्यास करके ब्रह्म साक्षात्कार, ब्राह्मी स्थिति, जीवन-मुक्ति, शान्ति और ब्रह्म-निर्वाण प्राप्त करके मोहों से छूट कर संसार के कर्त्तव्य कर्म्म करो।

॥ द्वितीय अध्याय समाप्त ॥

---

†अर्जुन को व्यक्त रूप भगवान् प्राप्त ही थे। वह मोह में फंसा। भगवान् ने उसे मोह से छुड़ाने का उपदेश दिया।

अध्याय—३

अथ कर्म्मयोग

इस अध्याय का विषय कर्म्मयोग है।

फल पाने की इच्छा से बचा रह कर तथा मोक्ष पाने का अधिकारी अपने को बनाये रख कर, जीवन भर कर्म्म करते रहना कर्म्मयोग है। प्राणी स्वभावतः ही कर्म्म करने में लगा रहता है। कर्म्म किये बिना कभी कोई रह नहीं सकता है। बाह्य-इन्द्रियों को रोक कर मन से इन्द्रिय-व्यापार करना मिथ्याचार वा दम्भ है; परन्तु मनोनिग्रह के साधनाभ्यास में यदि मन बहक जाय, तो बाह्य-इन्द्रिय को उस बहक में नहीं दौड़ने देना ही उत्तम है। क्योंकि बाह्य इन्द्रिय के रुकते-रुकते मन भी रुकने लगता है। इसीलिये—

"मन जाय तो जाने दे, तू मत जाय शरीर।
पाँचो आत्मा वश कर, कह गये दास कबीर॥"

इससे यह नहीं कि इस भाँति कोई स्वाभाविक और कर्त्तव्य कर्म्मों के करने से छूट सकता है।

उचित कर्म्म करना ही उत्तम है, न कि उन्हें छोड़ देना। क्योंकि संसार के कर्त्तव्यों और परहितार्थ कर्म्मों को छोड़ने से सांसारिक हानि उमड़ आयगी और जनता में दुःख फैल जायगा। इस हेतु कर्म्मयोग का साधन करते हुए कर्त्तव्य करते रहना परमोचित है। राजर्षि जनक आदि ने भी इसी भाँति कर्म्मयोग से ही सिद्धि पाई है। कर्म्मयोग की साधना इस भाँति करना कि मन से इन्द्रियों को नियम में रखते हुए, कर्म्मफल में अनासक्त

रह कर कर्मेन्द्रियों से कर्म्म करना तथा कर्म्मयोग के सहित त्रिकाल संध्या के विशेष अभ्यास से साधक आत्मा में रत हो सके। त्रैकाल संध्या के अभ्यास को छोड़ कर केवल कर्म्मयोग का का अभ्यासी बनने से कोई आत्मरत होने में सफल नहीं हो सकेगा। इसीलिये भगवान् श्रीकृष्ण भी संध्या किया करते थे।

ब्राह्मे मुहूर्ते उत्थाय वार्युपस्पृश्य माधवः।
दध्यौ प्रसन्नकरणः आत्मानं तमसः परम्॥
(श्रीमद्भागवत स्कन्ध १० उत्तरार्द्ध अध्याय ६०)

आत्मरत नहीं होने से न कामरूप दुर्जय शत्रु का संहार होगा; न कर्म्मयोग की सिद्धि ही होगी। आत्मा में संलग्न या रत रहने का अभ्यास करते हुए रह कर कर्म्म करना और अध्यात्म-वृत्ति रख कर ईश्वरार्पण बुद्धि से ममता, राग तथा आसक्ति से रहित होकर कर्म्म करना। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द; पाँचो विषयों से ज्ञानेन्द्रियाँ उच्च हैं। इन इन्द्रियों से मन उच्च है, मन से बुद्धि उच्च है और बुद्धि से आत्मा उच्च है। आत्मा को पहचानने से मन वश में होगा और तभी काम-रूप दुर्जय शत्रु का संहार होगा।

॥ तृतीय अध्याय समाप्त ॥

अध्याय—४

अथ ज्ञानकर्म्मसंन्यासयोग

इस अध्याय में ज्ञान, कर्म्म और संन्यास-योग का वर्णन किया गया है। ज्ञान, कर्म्म और संन्यास वा त्याग तीनों से युक्त रहते हुए, संसार में जीवन बिताने का उपदेश इस अध्याय में दिया गया है।

यह उपदेश बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा था। जैसे—भगवान् ने पहले सूर्य्य को, सूर्य्य ने अपने पुत्र मनु को और मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु को यह उपदेश दिया था। इस भाँति राजर्षियों की परम्परा में यह उपदेश बहुत काल तक चलता रहा। परन्तु दीर्घकाल की प्रबलता से यह नष्ट हो गया।

भगवान् श्रीकृष्ण ने पाण्डव* अर्जुन को यह उपदेश देकर फिर से इसका प्रचार किया।

इस उपदेश का सारांश इस प्रकार है—जीवों को अनेक बार जन्म-मरण के चक्र में घूमते रहना पड़ता है। साधारण लोगों को बीते हुए अनेकानेक जन्मों का स्मरण नहीं रहता है, परन्तु भगवान् श्रीकृष्णवत् महायोगेश्वर को यह स्मरण रहता है। साधारण लोग मायावश होकर जन्म लेते हैं, परन्तु महा-योगेश्वर माया को स्ववश में रखते हुए, संसार के कर्म्मों का सम्पादन करने के लिये, जन्म धारण करते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ऐसे ही थे। ऐसे महापुरुष पुरुषोत्तम अपने आत्मस्वरूप का प्रत्यक्ष ज्ञान रखने वाले, अपने को अजन्मा और अविनाशी प्रत्यक्ष रूप में जानते हैं। माया को स्ववश में रखते हुए, जन्म धारण कर, संसार के कार्यों का सम्पादन करने को दिव्य जन्म

---

*राजा पाण्डु के पुत्र होने के कारण अर्जुन पाण्डव कहलाते थे, किन्तु स्वयं पाण्डु भी कौरव ही थे।

और दिव्य कर्म्म जानना चाहिये। ऐसे जन्म-कर्म के जानने वाले का पुनर्जन्म नहीं होता है। (क्योंकि इसका पूर्ण ज्ञान आत्म-ज्ञान के बिना नहीं होता है। केवल बौद्धिक ज्ञान पूर्ण ज्ञान नहीं है। श्रवण, मनन, निदिध्यासन और अनुभव; ज्ञान के इन चारों अंगों में पूर्ण होने को ही पूर्ण ज्ञान कहते हैं। समाधिजन्य अनुभव ज्ञान हुए बिना, आत्म-ज्ञान नहीं होता है।)

श्रीमद्भगवद्गीता अ० ७, श्लोक २४ में, व्यक्त अथवा इन्द्रियगम्य रूप को ही केवल जानने वाले और इन्द्रियातीय रूप को नहीं पहचानने वाले को मूढ़ात्मा कहा गया है। मूढ़ात्मा को भगवान् के दिव्य जन्म और कर्म्म का ज्ञान हो और उसको पुनर्जन्म से मुक्ति मिले, कैसे सम्भव है? विषयानुरक्ति, भय और क्रोध से रहित भगवद्भक्त ज्ञानरूप तप से पवित्र होकर भगवान् में लीन हो जाते हैं। जब कोई श्रवण, मनन निदिध्यासन और अनुभव; ज्ञान के इन चारों अंगों में निष्णात् और परिपक्व होता है, तभी वह ज्ञानरूप तप से पवित्र होता है। चाहे मोक्षार्थी बन कर, चाहे यह लोक और स्वर्ग आदि परलोक का कामार्थी बन, जो जिस आकांक्षा से भगवान् का आश्रय लेते हैं, वे वैसे ही फल भगवान् से प्राप्त करते हैं। देवताओं की आराधना से किसी को मोक्ष नहीं मिलता है।

गुणों और कर्मों के विभागानुसार चार वर्णों की रचना ईश्वरकृत है, फिर भी ईश्वर अकर्त्ता ही रहता है। ईश्वर भगवान् कृष्ण को कर्म्म स्पर्श नहीं करता है।*

---

*"यः स नारायणो नाम देवदेवः सनातनः।
तस्यांशो वासुदेवस्तु कर्मणाऽन्ते विवेश ह॥"
महाभारत—स्वर्गारोहणपर्व अ० ५ श्लोक [illegible]

अर्थ—जो देवताओं के भी देवता, सनातन नारायण हैं, उनके अंश रूप वासुदेव जी कर्म्म के अन्त होने पर उन्हीं में प्रवेश कर गये

जो ईश्वर को भली-भाँति जानता है, वह कर्म्म-बन्धन से नहीं बँधता है।

भगवान् के इन्द्रियातीत आत्मस्वरूप के प्रत्यक्ष ज्ञान से विहीन, उनके केवल इन्द्रिय-गम्य रूप की प्रत्यक्षता प्राप्त भक्त को उपर्युक्त प्रकार की अभिज्ञता (जानकारी) नहीं होती है

यह श्लोक विदित करता है कि भगवान् श्रीकृष्ण को भी मानव-शरीर में किये कर्मों का फल स्वर्ग में भोगना पड़ा था। कर्मों का स्पर्श नहीं होता है और फिर स्वर्ग में जा कर्मफल भोग के अन्त होने तक वहाँ रहने के बाद अपने अंशी में जा मिलना—ये दोनों बातें 'महाभारत' में ही लिखी हैं। यह बात भी प्रसिद्ध है कि भगवान् श्रीकृष्ण को एक व्याधा ने भ्रमवश उनके चरण में तीर मारा था, जो उनके इस लोक से सिधार जाने का कारण हुआ। मानो स्वयं श्रीकृष्ण भगवान् ने उस तीर को इस लोक के त्यागने का कारण बना लिया था। उस तीर में लगा हुआ लोहा वही था, जिससे यदुवंश का नाश होना था; मुनियों ने ऐसा शाप दिया था। मानो इस शाप को भी भगवान् ने स्वीकार किया था। यह इसलिये कि त्रेतायुग के रामावतार में भगवान् ने वानरराज बालि का वध छिप कर किया था। उसी कर्म्म का वह प्रति-फल था। तुलसीकृत रामायण में तो श्री लक्ष्मण जी ने गुहनिषाद से श्रीराम-सीता के वनवास के कष्ट का कारण यह बताया था—

"काहु न कोउ सुख-दुःख कर दाता।
निज कृत करम भोग सुनु भ्राता ॥"

इससे जानने में आता है कि कर्म्मफल श्री भगवान् भी भोगते हैं। बात यह है कि जैसे सौर जगत् में रहने वालों पर सूर्य्य का प्रभाव अनिवार्य रूप से पड़ता रहेगा या कि जैसे, किसी राज्य में रहने वालों पर उस राज्य का विधान (कानून) लागू रहेगा, उसी भाँति कर्म्म-मण्डल में रहने वाले पर कर्म्म के फल का मिलना अनिवार्य रूप से होता रहेगा। इस नियम को स्वयम् भगवान् भी नहीं तोड़ते हैं। इस

और न वह कर्म्म-बन्धन से छूट सकता है। भगवत् स्वरूप को अच्छे प्रकार से जानने वालों ने कर्त्तव्य-कर्म्म किये हैं। सब लोगों को उसी प्रकार कर्म्म करना चाहिये।

कर्म्म और अकर्म्म क्या हैं, इस विषय में बुद्धिमान लोग भी मोह में पड़े हैं।

'कर्म्म', 'विकर्म्म' (निषिद्ध कर्म्म)* और 'अकर्म्म' का भेद जानना चाहिये। कर्म्म में अकर्म्म और अकर्म्म में कर्म्म देखना—

नरलोक से लेकर देहधारियों के जितने भी स्वर्गादि उत्तमोत्तम लोक हैं, सब के सब कर्म्म-भवन वा कर्म्म-मण्डल के अन्तर्गत हैं। इनमें से किसी में जाओ, कर्म्मफल का भोग अनिवार्य रूप से होता रहेगा।

हाँ, यदि देहधारियों के लोकों के ऊपर ब्रह्म-निर्वाण-पद में पहुँचो तो, वहाँ अवश्य ही कर्म्म-फल के भोग से सम्पूर्ण रूपेण रहित हो जाओगे। कर्म्मयोग के सहित परमात्म-भक्ति के साधन से ही उपर्युक्त सर्वोच्च पद की प्राप्ति होगी—अन्यथा नहीं। कर्म्म-योग और परमात्म-भक्ति में ज्ञान, संन्यास, विषय-भोग की लालसा का त्याग, कर्म्म-फल का त्याग, सफलता और विफलता में तटस्थता और आत्म-ज्ञान ओत-प्रोत रहते हैं।

*विद्वानों एवं साधकों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से विकर्म्म का अर्थ किया है! यथा—

"कर्मणः शास्त्रविहितस्य हि यस्माद् अपि अस्ति बोद्धव्यं बोद्धव्यं च अस्ति एव विकर्मणः प्रतिषिद्धस्य, तथा अकर्मणः च तूष्णींभावस्य बोद्धव्यम् अस्ति इति त्रिषु अपि अध्याहारः कर्त्तव्यः।"

अर्थ—कर्म्म का—शास्त्रविहित कर्म्म का भी रहस्यजानना चाहिये, विकर्म्म का—शास्त्रवर्जित कर्म्म का भी रहस्य जानना चाहिये और अकर्म्म का—चुपचाप बैठे रहने का भी रहस्य समझना चाहिये।

(शांकरभाष्य का भाषानुवाद)

इस भाँति कर्म्म में गूढ़ता है। इस गूढ़ता भरे कर्म्म के करने वाले को बुद्धिमान्, योगी और समस्त कर्त्तव्यों का करने वाला जानना चाहिये। पूर्ण आत्म-ज्ञान-प्राप्त महापुरुष योगेश्वर कर्म्म में अकर्म्म रहते हैं। परन्तु इस ज्ञान में जो अपूर्ण है. वह अकर्म्म का ढोंग रखता है और अकर्म्म में कर्म्म का कर्त्ता कहलाता है।

"विकर्मणि च, नित्य नैमित्तिक काम्य रूपेण तत्साधन द्रव्यार्जनाद्या कारेण च. विविधताम् आपन्नं कर्म्म विकर्म्म।"

अर्थ—नित्य, नैमित्तिक और काम्य रूप से तथा उनके साधन द्रव्योपार्जनादि रूप से विविध भावो को प्राप्त कर्म्म, विकर्म्म कहलाते हैं।

(श्री रामानुज भाष्य। अनुवादक—हरिकृष्ण दास गोयन्दका)

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक के अनुसार—"निषिद्ध कर्म्म वा तामस कर्म्म, मोह और अज्ञान से हुआ करते हैं, इसलिये उन्हें विकर्म्म कहते हैं। मीमांसकों को यज्ञ-याग आदि काम्य कर्म्म इष्ट हैं, इसलिये उन्हें इनके अतिरिक्त और सभी कर्म्म 'विकर्म्म' जंचते हैं।.................. अपने माँ-बाप को कोई मारता-पीटता हो, तो उसको न रोक कर चुप्पी मार कर बैठा रहना, उस समय व्यावहारिक दृष्टि से अकर्म्म अर्थात् कर्म्मशून्यता हो तो भी, कर्म्म ही—अधिक क्या कहें; विकर्म्म है; और कर्म्म-विपाक की दृष्टि से उसका अशुभ परिणाम हमें भोगना ही पड़ेगा।" विकर्म्म = विपरीत कर्म्म। गीता-रहस्य पृ० ६७५ और ६७७।

महात्मा गांधी जी महाराज के अनुसार 'विकर्म्म' का अर्थ निषिद्ध कर्म्म है।—अनासक्ति योग (श्लोक-सहित गीता के पृष्ठ ७९)।

शब्दकोष में 'वि' का अर्थ इस भाँति है:—यह उपसर्ग है, जो विशेष, निषेध तथा वैरूप्य (विरूपता, कदर्य्यता, क्षुद्रता) के अर्थ में शब्दों के पहले लगाया जाता है।—और 'विकर्म्म' का अर्थ 'दुराचार' है।

और वह भी अकर्म्म में ढोंगी है, जो बाहर से कर्म्मत्यागी है, परन्तु मन से विषयों में रमण करता रहता है। पूर्ण आत्म-ज्ञानी ही पण्डित कहलाता है। वह सब आरम्भ, कामना और संकल्प से रहित रहता है। उसके सब कर्म्म ज्ञानाग्नि से भस्म हो जाते हैं। वह कर्म्मफल-त्यागी, सदा सन्तुष्ट और किसी

श्रीमद्भगवद्गीता के अध्याय ४, श्लोक १७ में कर्म्म, विकर्म्म और अकर्म्म को जानने के लिये कहा गया है। वहाँ प्रसंगानुसार विकर्म्म का जो अर्थ श्री शंकराचार्य जी महाराज, श्री रामानुजाचार्य जी महाराज, श्री बाल गंगाधर तिलक जी महाराज और श्री महात्मा गांधी जी महाराज ने बताया है, मुझे वही ठीक जँचता है। क्योंकि कर्म्म ज्ञान के लिये सर्वप्रथम विधि कर्म्म और निषिद्ध कर्म्म (दोनों ही) का ज्ञान होना आवश्यक है। गो० तुलसीदास जी महाराज भी यही कहते हैं —

"विधि निषेध मय कलिमल हरनी।
करम कथा रविनन्दिनि बरनी।।"

(रामचरित मानस)

केवल विधि (वैध) कर्म्म का ही ज्ञान हो, निषिद्ध (अवैध) कर्म्म का ज्ञान नहीं हो और विकर्म्म का अर्थ विशेष कर्म्म करके निषिद्ध कर्म्म के जानने और बताने की आवश्यकता नहीं समझी जाय, तो कर्म्म का ज्ञान अवश्य अपूर्ण रहेगा। ऐसी अवस्था में यदि कोई निषिद्ध कर्म्मों (चोरी-डकैती आदि) को ही पूरा कर मन लगा कर करे तो ये कर्म्म उक्त कथनानुसार विकर्म्म (विशेष कर्म्म) हो जायेंगे और ऐसे विकर्म्म (विशेष कर्म्म) अवश्य ही महा अनिष्टकर होंगे। यदि कहा जाय कि कर्म्म में अकर्म्म (अर्थात् अहंकार और फल-आश त्याग कर कर्म्म करना) विधि-कर्म्म है तथा अकर्म्म में कर्म्म (अर्थात् बाहर से कर्म्म-शून्यता और अन्तर में मानस कर्म्मों को करना) निषिद्ध कर्म्म है; तो जानना चाहिये कि बाहर से कर्म्म-शून्यता और अन्तर में सद्विचार तथा ब्रह्म-चिन्तन में संलग्नता, अकर्म्म में कर्म्म होते हुए भी,

आश्रय की लालसा से विहीन होता है। वह कर्त्तव्य कर्म्म में प्रवृत्त रह कर भी अकर्मी रहता है। "कर्म्म की होहिं स्वरूपहि चीन्हें" (तु० कृ० रामायण)। ऐसे पुरुष का मन उसके वश में

निषिद्ध कर्म्म कदापि नहीं है। बाहर में परोपकारादि शुभ कार्य और निज कर्त्तव्य करने का कर्म्म और अन्तर में ईश-स्मरण, (यथा— 'मामनुस्मर युध्य च' गीता अ० ८ श्लोक ७)— यद्यपि यहाँ बाहरी कर्म्म से मन का मेल पूरा-पूरा ठीक मिला नहीं है (अर्थात् बाहरी कर्म्म के साथ विकर्म्म का अर्थ विशेष कर्म्म करने वाले के अनुकूल नहीं है,) तो भी, ऐसे कर्म्म को निषिद्ध कर्म्म नहीं कह सकते। इस हेतु भगवद्गीता के उक्त श्लोक में जो कर्म्म-ज्ञान का आदेश है, उसमें निषिद्ध कर्म्म को ही विकर्म्म कहा गया है ऐसा जान पड़ता है।

विकर्म्मी (निषिद्ध कर्म्म का कर्म्मी) होने से बचा रह कर, कर्म्मी में अकर्म्मी (कर्त्तव्य कर्म्म वाह्य इन्द्रियों से करते हुए मन से उस कर्म्म के करने का अहंकार और कर्म्म-फल का त्याग) रह कर और अकर्म्मी में कर्म्मी (बाहर से अकर्म्मी और मन से कर्म्मी) रहने का दम्भ छोड़ कर, कर्म्मयोग के सहित परमात्म-भक्ति का साधन ठीक बनेगा।

इस अध्याय में बताये गये यज्ञों द्वारा यह साधन क्रमशः पूर्णता की ओर चलते-चलते समाप्त हो जायगा।

केवल बुद्धि-शक्ति से ही मोक्ष का यह साधन समाप्त होने योग्य नहीं है। यह ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करने वा परम मोक्ष वा प्रत्यक्ष— अपरोक्ष आत्म-ज्ञान जीते जी पा लेने पर ही कोई पूर्ण कर्म्मयोगी वा संन्यासी, वा स्थितप्रज्ञ, वा समत्व-प्राप्त पुरुष वा सन्त कहलाने का अधिकारी हो सकता है।

जो कर्म्म में अकर्म्मी होने का और विकर्म्म के त्याग का प्रयास आरम्भ करके उसमें आगे बढ़ता जाता है, वह सांसारिक भोगों से अनासक्त होता जाता है। उससे उपर्युक्त साधन बनते-बनते पूर्णरूप से बन जाता है और अनासक्त रहने के कारण, संसार में भी वह शान्ति से रह सकता है।

रहता है। वह द्वन्द्व और द्वेष से रहित रहता है और सफलता तथा विफलता में तटस्थ (विकार-विहीन) रहता है। वह यज्ञार्थं अर्थात् परहित-हेतु कर्म्म करता है। वह सब कर्मों को ब्रह्ममय

अध्याय २, श्लोक ५३ में तो स्पष्ट ही कहा गया है कि समाधि में बुद्धि (प्रज्ञा) जब स्थिर होगी, तब समत्व प्राप्त होगा। जब जिसकी बुद्धि अर्थात् प्रज्ञा स्थिर होती है, तब वह स्थितप्रज्ञ होता है और तभी वह समत्व-प्राप्त पुरुष होता है। चाहे स्थितप्रज्ञ कहो वा समत्व-प्राप्त पुरुष कहो, एक ही बात है। गीता के अनुसार ऐसा ही पुरुष पूर्ण कर्म्म-योगी होता है. परन्तु गीता कहती है कि समाधि में ही यह दशा प्राप्त होती है। तब समाधि प्राप्त करने का साधन छोड़ कर केवल बुद्धिबल से ही इस दशा में आने का प्रयास गीता के प्रतिकूल ही नहीं वरन् अयुक्त और असम्भव भी है। समाधि साधन का तिरस्कार कर "केवल बुद्धि-बल के प्रयास से ही समत्व वा स्थितप्रज्ञता को प्राप्त कर लेना गीता के अनुकूल है"—ऐसा कहना मिथ्यावाद के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है ? हाँ ऐसा कहना कि बुद्धि-बल से और समाधि के साधन से—दोनों से—समत्व प्राप्त करने का गीता का आदेश है; यह पूर्ण रूप से गीता-ज्ञान के अनुकूल मानना पड़ेगा। विकर्म्मी होने से बचते हुए. कर्म्म में अकर्म्मी रहने के भाव को बुद्धि बल से बढ़ाते रहो और साथ ही साथ, समाधि का भी अभ्यास करते रहो तो अन्त में पूर्ण कर्म्मयोगी बन कर ब्रह्मनिर्वाण जीते जी प्राप्त कर लोगे। श्री गीता जी का यही सच्चा उपदेश है।

कोई यह कहते हैं कि 'वि' का अर्थ जब विशेष है तो विकर्म्म का अर्थ विशेष कर्म्म होगा ही और विकर्म्म के लिये निम्नोक्त प्रकार के अर्थों को जानना चाहिये—(१)"कर्म्म का अर्थ है स्वधर्माचरण की बाहरी स्थूल क्रिया। इस बाहरी क्रिया में चित्त को लगाना ही विकर्म्म है। स्वधर्माचरण-रूपी कर्म्म करते हुए यदि मन का विकर्म्म उसमें नहीं जुड़ा है, तो उसे धोखा समझना चाहिये।" (२) "कर्म्म के साथ मन

देखता है। होम, होम की सब सामग्रियां, हवि, अग्नि, होम करने वाला, ये सब के सब ब्रह्म हैं। (ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान बिना अपरोक्ष ब्रह्म-ज्ञान के नहीं होता है। केवल श्रवण, मनन और

का मेल होना चाहिये। इस मन के मेल को ही गीता 'विकर्म्म' कहती है।" (३) "कर्म्म में विकर्म्म उड़ेलने से अकर्म्म होना है। कर्म्म में विकर्म्म डाल देने से वह अकर्म्म हो जाता है, मानो कर्म्म को करके फिर उसे पोंछ दिया हो," इत्यादि। अब प्रत्येक संख्या के अर्थ पर विचार करना आवश्यक है।

(१) कर्म्म का अर्थ "स्वधर्माचरण की बाहरी स्थूल क्रिया" यदि कोई कहता है तो यह उसका केवल अपना अर्थ है, सबके मानने योग्य यह अर्थ नहीं है। जिस धर्माचरण में केवल बाहरी ही कर्म्म, मन के मेल के बिना ही होता है उसको आडम्बरी-कर्म्म कहना चाहिये, न कि यथार्थ में धर्माचरण-कर्म्म। क्या धर्माचरण कर्म्म की यह परिभाषा है कि बिना मन के योग के केवल बाह्य आडम्बरी कर्म्म करना? कदापि नहीं। मन का योग तो धर्माचरण कर्म्म में होना ही चाहिये, तभी वह धर्माचरण-कर्म्म कहा जा सकेगा। बिना मन के मेल के बाह्य-कर्म्म को धर्माचरण कह ही नहीं सकते हैं। क्योंकि धर्म का मूल सत्य है और बिना मन के मेल के धर्म्म-कर्म्म में सत्यता नहीं है। धर्माचरण-कर्म्म में मन का मेल रखना ही पड़ेगा। कोई भी कर्म्म बिना मन के योग के पूर्ण रूप से ठीक नहीं बन सकता। यथार्थ में जो कुछ किया जाय, उसे कर्म्म कहते हैं। उसमें (क) धर्माचरण-कर्म्म वह है, जिसे विधि कर्म्म अर्थात् धर्मशास्त्रोक्त कर्त्तव्य कर्म्म कहते हैं और (ख) निषिद्ध कर्म्म वह है, जिसे अधर्माचरण-कर्म्म अर्थात् धर्मशास्त्र से मना किया हुआ अकर्त्तव्य कर्म्म कहते हैं। इसको ही भगवद्गीता में 'विकर्म्म'-की संज्ञा दी गई है। क्या धर्मशास्त्र, धर्माचरण-कर्म्म बिना मन के योग के ही करने की आज्ञा देता है? इसका उत्तर सिवा 'नहीं' के 'हाँ' नहीं हो सकता।

भावना वाले को यह ज्ञान कदापि नहीं हो सकता।) इस प्रकार कर्म्मों के साथ ब्रह्म का मिलाप देखने वाला ब्रह्म को प्राप्त करता है।

विविध प्रकार के यज्ञ करने वाले होते हैं। कोई देव-पूजन-रूप यज्ञ करते हैं। (यह यज्ञ तब पूर्ण होता है—जब पूज्य देव के

---

(२) "कर्म्म के साथ मन के मेल को गीता विकर्म्म' कहती है।"

श्री शंकराचार्य्य जी महाराज, श्री रामानुजाचार्य्य जी महाराज, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक जी महाराज और महात्मा गाँधी जी महाराज ने गीता के अपने-अपने अर्थों में यह नहीं बतलाया है कि उपर्युक्त बात को गीता 'विकर्म्म' कहती है। उन बड़े लोगों को भी 'विकर्म्म' का अर्थ विशेष कर्म्म अवश्य ज्ञात होगा; परन्तु गीता में जहां कर्म्म, विकर्म्म और अकर्म्म के बारे में कहा गया है, वहां विकर्म्म का अर्थ 'विशेष कर्म्म' कहना उनको नहीं जंचा। कर्म्म प्रसंग में निषिद्ध कर्म्म को जानना और जनाना उन्हें आवश्यक जान पड़ा। स्वयं गीता अपने अध्याय ४ श्लोक २० में कहती है—

"त्यक्त्वा कर्म्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः॥"

अर्थ—कर्म्मफल की आसक्ति छोड़ कर जो सदा तृप्त और निराश्रय है, (अर्थात् जो पुरुष कर्म्मफल के साधन की आश्रयभूत ऐसी बुद्धि नहीं रखता कि अमुक कार्य की सिद्धि के लिये अमुक काम करता हूं।) कहना चाहिये कि वह कर्म्म करने में निमग्न रहने पर भी कुछ नहीं करता।

—लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक

"जिसने कर्म्मफल का त्याग किया है, जो सदा सन्तुष्ट रहता है, जिसे किसी आश्रय की लालसा नहीं है, वह कर्म्म में अच्छी तरह

आत्म-स्वरूप का प्रत्यक्ष दर्शन पूजक को हो जाता है।) कोई इन्द्रियों का संयमरूप यज्ञ करते हैं। (यह यज्ञ इन्द्रियों की चेतन-धारों को अन्तर्मुखी करके केन्द्र में केन्द्रित करने से होता है।) कोई शब्दादि विषयों को इन्द्रियाग्नि में होम कर यज्ञ करते हैं। (इन्द्रियों की चेतनधारों को अन्तर्मुख करके केन्द्र में केन्द्रित) ऐसा करने से, वहाँ अन्तर्ज्योति उदित होती है।* तथा उस ज्योतिमण्डल में अनहद-ध्वनि अनवरत रूप से ध्वनित

लगा रहने पर भी, कुछ नहीं करता, ऐसा कहा जा सकता है।" —महात्मा गाँधी। (रेखाङ्कण इस लेखक का है) इसके द्वारा गीता कर्म्म में निमग्न रहने वा अच्छी तरह लगे रहने अर्थात् अत्यन्त मनोयोग से कर्म्म करने कहती है। पर यहाँ मन लगा कर कर्म्म करने के लिये 'विकर्म्म' शब्द का प्रयोग नहीं करती है। इससे यहाँ अच्छी तरह प्रगट होता है कि गीता "कर्म्म के साथ मन के मेल" को 'वकर्म्म' कदापि नहीं कहती है।

(३) "कर्म्म में विकर्म्म उड़ेलने से अकर्म्म होता है। कर्म्म में विकर्म्म डाल देने से वह अकर्म्म हो जाता है, मानो कर्म्म करके फिर उसे पोंछ दिया हो।"

ऐसा क्यों ? इसको युक्ति-युक्त रीति से, कि "मनोयोग से कर्म्म करने पर वह अकर्म्म क्यों हो जाता है," समझाये बिना ही ठीक नहीं है। पूर्ण मनोयोग से किया हुआ कर्म्म अकर्म्म हो जायगा, यह मानने योग्य नहीं है। प्रथम तो 'विकर्म्म'' का अर्थ 'मनोयोग युक्त कर्म्म'' लगाना भगवद्गीता के अनुकूल नहीं है। तब भगवद्गीता के आधार पर उपर्युक्त बातें कहनी पूर्णरूपेण असंगत है।

*"नाम का तेल सुरत की बाती, ब्रह्म अगिन उद्गारु रे।
जगमग ज्योति निहारु मन्दिर में, तन मन धन सब वारु रे॥"
(कबीर साहब)

होती रहती है। मानो उस प्रकाशाग्नि में शब्द की आहुति पड़ती है। और दूसरे सब विषय भी उस प्रकाश-मण्डल के अभ्यन्तर उदित हो-होकर उसमें लीन होते रहते हैं। मानो उन सब सूक्ष्म विषयों की आहुतियाँ उस प्रकाशाग्नि में पड़ कर भस्म होती हैं।* कोई इन्द्रियों के कर्मों को तथा प्राण के व्यापारों को ज्ञान-दीपक की प्रज्वलित आत्म-संयम रूप योगाग्नि में होमते हैं। (इन्द्रियों और प्राणों के व्यापार चेतन-धारों के कारण से ही होते हैं। साधन-द्वारा इन चेतन-धारों को अन्तर में समेट कर केन्द्रित करने में ज्ञान-दीपक जलता है।

"जैसे मन्दिर दीपक बारा।
ऐसे जोति होत उजियारा ॥"

(तुलसी साहब)

यह अवश्य ही योगाग्नि का तेज है। इसको पाकर साधक वा इस यज्ञ को करने वाला पूर्ण आत्म-संयमी हो जाता है।) कोई परोपकारार्थ, द्रव्य-दान-रूप यज्ञ, कोई तपरूप यज्ञ, कोई योगाभ्यासरूप यज्ञ, कोई स्वाध्यायरूप यज्ञ और कोई ज्ञान-यज्ञ (अर्थात् ज्ञान-ग्रहण और ज्ञान-दान-रूप यज्ञ) करते हैं। ये सब कठिन व्रती और प्रयत्नशील याज्ञिक होते हैं। प्राणायाम में निरत, प्राणवायु और अपानवायु दोनों को रोक कर, अपानवायु को प्राण में और प्राण-वायु को अपान-वायु में होमते हैं।‡ (दृष्टि-योग से सुषुम्ना में ध्यान स्थिर हो जाने पर भी यह

*अणिमादि सिद्धियों के प्रलोभनों को हवन कहते है।

‡अपान में प्राणवायु को, प्राण में अपान को होमना, दोनों का अवरोध करना, प्राणों को प्राण में होमना तथा शब्दादि विषयों को इन्द्रियाग्नि में होमना, ये सब समाधि के साधन हैं। आगे इन साधनों पर यथा सम्भव प्रकाश डाला जायगा। ये विशेष रूप से गुरुगम्य हैं।

होम हो सकता है।) अथवा अध्याय ६ में कहे गये नासाग्र में देखने के अभ्यास से और दूसरे भोजन का संयम कर, प्राणों में

प्राण एवं प्राणवायु दोनों ही दृष्टियोग के अभ्यास से रुकते हैं।

"द्वादशाङ्गुल पर्यन्ते नासाग्रे विमलेऽम्बरे।
संविद्दृशि प्रशाम्यान्त्यां प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥३२॥
भ्रूमध्ये तारकालोकशान्तावन्तमुपागते।
चेतनैकतने बद्धे प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥३३॥
चिरकालं हृदेकान्तव्योम संवेदनान्मुने।
अवासनमनोध्यानात्प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥३४॥"
(शाण्डिल्योपनिषद्)

अर्थ—"जब संवित् (सुरत) नासाग्र से बारह अंगुल पर स्वच्छ आकाश में स्थिर हो. तो प्राण का स्पन्दन रुद्ध हो जाता है।"

"जब चेतन (सुरत) भौओं के बीच के तारकलोक में पहुँच कर स्थिर होता है तो प्राण की गति बन्द हो जाती है।'

"हृदयाकाश में संकल्प-विकल्प-रहित और वासनाहीन मन से बहुत दिनों तक ध्यान करने से प्राण की गति रुक जाती है।"

उपनिषद् के इन वाक्यों का यदि कोई विश्वास नहीं करे तो उसे वर्णित साधन करके देखना चाहिये। प्राण के स्थिर होने पर, प्राण में अपान, अपान में प्राण का हवन होगा। दृष्टियोग-ध्यान से यह यज्ञ, बिना प्राणायाम के कष्ट के ही हो जायगा। यह कहा जा सकता है कि दृष्टियोग-ध्यान-साधन प्राणायाम करने का सुगम और निरापद साधन है।

मण्डल-ब्राह्मणोपनिषद् के ब्राह्मण २ में शाम्भवी मुद्रा और नासाग्र का लक्ष्य बतला कर दृष्टियोग-साधन ही बताया है। तथा इसके गुणों का वर्णन करते हुए कहा है कि—तदभ्यासान्मनः स्थैर्यम्। ततो वायु-

प्राण होमते हैं। (अर्थात् इन्द्रियगत चेतन धारों* को दृष्टियोग-द्वारा एकत्र कर कर्मेन्द्रियों की चेतन-धाराओं को ज्ञानेन्द्रियों की चेतन-धाराओं से मिला कर, चेतन-धाराओं के रूप प्राणों को, चेतन-धाराओं के रूप प्राणों में होमते हैं। आहार का संयम नहीं रखने से उक्त योगाभ्यास नहीं हो सकता है। अध्याय ६ में इस संयम को आवश्यक बतलाया गया है। पहले जब दृष्टियोग के अभ्यास से युगल नेत्रों की चेतन-धाराएँ जुट कर एकबिन्दुता ग्रहण करती हैं, तब सब इन्द्रियों की चेतन-धाराएं उसी बिन्दु में खिंच कर, सब मिल-जुल कर, एक हो जाती हैं। इस प्रकार प्राण का प्राणों में होम होता है।†

परन्तु इस होम को बिरला ही गुरुमुख जानता है और करता है।††

स्थैर्यम्।" अर्थात् "उसके अभ्यास से मन की स्थिरता आती है। इस वायु स्थिर होता है।"

*चेतन आत्मा को भी प्राण कहते हैं। देखो प्रश्नोपनिषद, प्रश्न का शाङ्करभाष्य।

†इस होम में सुषुम्न-बिन्दु हवन-कुण्ड है, युगल नेत्र की चेतन धाराएँ अरणि वा समिधा हैं और सब इन्द्रियों की चेतन-धाराएं हवि हैं, ऐसा जानना चाहिये।

††योगिराज श्यामाचरण लाहिड़ी महाशय जी की संस्था की 'योग संगीत' नामक पुस्तिका में इसी आशय का निम्नलिखित पद्य है—

"आनन्दे आनन्दे बाड़े प्रति क्षण,
दशेन्द्रिय थाके शून्ये ते बन्धन।
रिपुचय पराजय, सकलि आनन्दमय,
अनुभव मात्र रय, आर सब पाय लय,
जेमन जीवने जीवन थाके ना॥"

उक्त यौगिक यज्ञ में ब्रह्म परमात्मा-रूप अग्नि प्रत्यक्ष होती है। तब याज्ञिक को पूर्ण आत्म-ज्ञान प्राप्त होता है। उसके किये हुए अन्यान्य सब यज्ञ उस ब्रह्माग्नि में आप से आप ही आहुति होकर पड़ जाते हैं। वह याज्ञिक कर्म्मरहित हो जाता है। "कर्म्म कि होहिं स्वरूपहि चीन्हे।" वह अहं-पद से ऊपर उठ जाता है। इस पद पर आरूढ़ रह कर अपने कर्त्तव्य कर्म्मों को करते हुए वह अकर्त्ता बना रहता है। इन (यज्ञों) को जानने वाले याज्ञिक उपर्युक्त यज्ञों के द्वारा अपने पापों (अर्थात् सर्व्व कर्म्म-बन्धनों)को भस्मीभूत करते हैं। यज्ञ से बचा हुआ अमृत खाने वाले सनातन ब्रह्म को प्राप्त करते हैं। यज्ञ से वा परोपकारार्थ दिये हुए धन से बचे हुए* धन का उपयोग करने वाले होकर सनातन ब्रह्म को प्राप्त करते हैं। यज्ञ न करने वाले के लिये यह लोक सुखकर नहीं हो सकता है। तब उसे परलोक का सुख और मोक्ष कहाँ से हो सकता है?

और—"तीन दिन परे त्रिगुणेर परे,
स्रोतेर जलेते डूबिल प्रतिमा।
दशमीर दशा, ए दशम दशा,
कि बले बुझाव बुझाते पारि ना।
पार्वती चले गेलेन कैलाशे,
मिशेछेन सती कूटस्थ पुरुषे।
सुखे कि दुखे ते विषादे हरषे,
के आमी आमार मनेइ आसे ना॥"

इन पद्यों में वर्णित कर्म्म भी उपर्युक्त यौगिक होम से ही होता है।

* जो परोपकार से बचे हुए धन को अपने काम में लाता है और दूसरे सब उक्त यज्ञों को करता है, वह सनातन ब्रह्म को निःसंशय प्राप्त करेगा। इन्द्रियाग्नि में शब्दादि विषयों को होमने को कुछ लोग भजनादि सुनना बताते हैं, परन्तु शब्दादि पंच-विषयों को परमात्म-सम्बन्धी

द्रव्य-यज्ञ से ज्ञान-यज्ञ श्रेष्ठ है। ज्ञान में सम्पूर्ण कर्म्मों का अन्त हो जाता है। इस विषय को, आत्म-तत्व के जानने वाले ज्ञानियों के पास जाकर; उन्हें प्रणाम और उनकी सेवा कर, विनीत भाव से प्रश्न करके उनसे जानना चाहिये।

भक्ति-भाव में लाकर उन-उन विषयों को इन्द्रियों से युक्त कर देना होता है। इस तरह इन्द्रियाग्नि में विषयों को होम कर सनातन ब्रह्म की प्राप्ति हो, सम्भव नही है। इस यज्ञ का दूसरा प्रकार सूक्ष्म है। वह यह है कि इन्द्रियगत चेतन-धाराओं को, क्रिया-विशेष द्वारा, अपने अन्दर में समेट कर, उन्हें एक बना, बाह्य इन्द्रियों से ऊपर रह कर ब्रह्म ज्योति का दर्शन करो। अनहद नादों को सुनो, तत्सम्बन्धी आंतरिक रस का आस्वादन करो, चेतन-धार के चेतन-धार से मिलन के स्पर्श-सुख से सुखी होओ। वा पराप्रकृति-रूप जीव को अपरा और परा प्रकृतियों के स्वामी; क्षराक्षर पुरुष-पर पुरुषोत्तम से मिलाओ और तत्सम्बन्धी स्पर्शसुख भोगो। तुरीयावस्था में मिलने वाली देव-दुर्लभ दिव्य गन्ध को प्राप्त करो। ऐसा होता है, इसके लिये सन्तवाणी सुनो—

"श्रवण बिना धुनि सुनै, नयन बिनु रूप निहारै।
रसना बिनु उच्चरै, प्रशंसा बहु विस्तारै॥
नृत्य चरण बिनु करै, हस्त बिनु ताल बजावै।
अंग बिना मिलि संग, बहुत आनन्द बढ़ावै॥
बिनु शीश नवै जहँ सेव्य को, सेवक भाव लिये रहै।
मिलि परमातम सों आतमा, परा भक्ति 'सुन्दर' कहै॥"

(सुन्दर दास जी)

"भजन में होत आनन्द आनन्द।
बरसत विशद अमी के बादर, भीजत है कोइ सन्त॥
अगर बास जहँ तत की नदिया, मानो धारा गंग।
कर स्नान मगन हो बैठो, चढ़त शब्द के रंग॥"

(कबीर साहब)

ज्ञान-प्राप्त पुरुष को अपने में और परमात्मा में सारा ब्रह्माण्ड दरसता है। यह ज्ञान केवल बौद्धिक ही नहीं होता है, वरंच श्रवण, मनन और निदिध्यासन की समाप्ति के पश्चात् पूर्ण समाधि-द्वारा अनुभूत होकर अपरोक्ष रूप से प्राप्त होता है। निदिध्यासन में

"विमल विमल बानी उठे, अदबुद असमाना हो।
निर्मल बास निवास में, कर कर कोइ जाना हो॥"

दूसरा पाठ—

निशि बासर जहाँ अगर बहे ....।

(तुलसी साहब)

द्वादश इंगला पिंगला जाय।
परिमल बास अग्र तहँ पाय॥"

(दरिया साहब, बिहारी)

वे जो केवल मोटे और बाहरी विचारों में लगे हुए हैं, तथा मानसिक और बौद्धिक साधन में अनुरक्त हैं उन्हें सन्त-साधना में लीन किसी योग्य पुरुष से बिना जिज्ञासा किये, उपर्युक्त गूढ़ रहस्य की जानकारी नहीं हो सकती है। बाहरी भाव वालों ने तो यहाँ तक किया कि स्पर्श-विषय को इन्द्रियाग्नि में होमने के लिये अपने को गोपी, सखी वा पत्नी भाव में (यहाँ तक कि वेश-भूषा में भी) लाया। यह नहीं कि कबीर साहब आदि सन्तों ने अपने को, सखी वा पत्नी भाव में अपने भजनों में नहीं वर्णित किया है, परन्तु उनका भाव बहुत उच्च और अत्यन्त पवित्र है। उनके भजनों से जानने में आता है। यथा—

"सखिया वा घर सब से न्यारा, जहँ पूरन पुरुष हमारा॥टेक॥
जहँ नहिं सुख दुख, साँच झूठ नहिं, पाप न पुन्न पसारा।
नहिं दिन रैन चन्द नहिं सूरज, बिना जोति उजियारा॥"

(कबीर साहब)

अभ्यास-द्वारा चलते-चलते अभ्यासी को अपने अन्दर सारा ब्रह्माण्ड दिखाई देने लगता है।—और अन्त में उसे स्व-स्वरूप-सहित परमात्म-स्वरूप का भी प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। ज्ञान-यज्ञ

"हिय नैन सैन सुचैन सुन्दरि साजि श्रुति पिउ पै चली।
गिरि गवन गोह गुहारि मारग चढ़त गढ़ गगना गली॥"
"आली पार पलंग बिछाइ पल पल ललक पिउ सुख पावही।
खुस खेल मेल मिलाप पिउ कर पकरि कंठ लगावही॥
रस रीति जोति जनाइ आसिक इश्क रस बस ले रही।
पति पुरुष सेज सँवारि सजनी अजब आली सुख का कही॥
मुख बैन कहनि न सैन आवै चैन चौज चिन्हावहीं।
आली सन्त अन्त अतन्त जानै बूझि समझि सुनावहीं॥
जिन चीन्हि तन मन सुरत साधी भवन भीतर लख लई।
जिन गाइ शब्द सुनाइ साखी भेद भाषा भिनि भई॥
आली अलख अण्ड न खलक खंडा पलक पट घट घट कही।
तुलसी तोल बोल अबोल बानी बूझि लखि बिरले लई॥"

(तुलसी साहब)

श्रीमद्भागवत के स्कन्ध १०, अध्याय २९ श्लोक ११ में गोपियों के भाव के लिये यह लिखा है "उनका (गोपियों का) श्रीकृष्ण के प्रति भगवद्भाव नहीं था, जार-भाव था, परन्तु कहीं सत्य वस्तु भी भाव की अपेक्षा रखती है? उन्होंने जिनका आलिंगन किया, चाहे किसी भी भाव से किया हो, वे स्वयं परमात्मा ही तो थे। इसलिये उन्होंने पाप और पुण्य-रूप कर्म्म के परिणाम से बने हुए गुणमय शरीर का परित्याग कर दिया। भगवान् की लीला में सम्मिलित होने योग्य दिव्य

यहाँ समाप्त हो जाता है। अभ्यासी जीवन्मुक्त होते हुए विदेह-मुक्त होकर ब्रह्म-निर्वाण को प्राप्त कर जन्म-मरण से छूट कर, दुःखों से सदा के लिये मुक्त हो जाता है। सब पापियों से भी यदि कोई बढ़ कर पापी हो, तो भी वह ज्ञान-नौका-द्वारा सब

अप्राकृत शरीर प्राप्त कर लिया। इस शरीर में भोगे जाने वाले कर्म्म-वन्धन तो ध्यान के समय ही छिन्न-भिन्न हो चुके थे।

(श्री भागवत् सुधासागर, गीता प्रेस, गोरखपुर)

परन्तु कुब्जा के लिये दूसरा ही लिखा है—"भगवान् श्रीकृष्ण सच्चिदानन्द स्वरूप होने पर भी लोकाचार का अनुकरण करते हुए, तुरन्त उस (कुब्जा) की बहुमूल्य सेज पर जा बैठे। तब कुब्जा.............
अपने को खूब सजाकर लीलामयी लजीली मुसकान तथा हाव-भाव के साथ भगवान् की ओर देखती हुई उनके पास आई। कुब्जा नवीन मिलन के संकोच से कुछ झिझक रही थी। तब श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण ने उसे अपने पास बुला लिया और उसकी कंकण से सुशोभित कलाई पकड़ कर अपने पास बैठा लिया और उसके साथ क्रीड़ा करने लगे ....
परन्तु उस दुर्भागा ने उन्हें प्राप्त करके भी ब्रज-गोपियो की भाँति सेवा न मांग कर यही माँगा—"प्रियतम ! आप कुछ दिन यहीं रह कर मेरे साथ क्रीड़ा कीजिये। क्योंकि हे कमलनयन ! मुझसे आपका साथ नहीं छोड़ा जाता।" .... उन्होंने (श्रीकृष्ण ने) अभीष्ट वर देकर उसकी पूजा स्वीकार की।"

(भागवत सुधासागर, गीता प्रेस, गो० स्क. १० अ. ४८ श्लो.४-१० तक)

कुब्जा को गोपियों की तरह बुद्धि नहीं हुई, ऐसा क्यों ?—समझ में नहीं आता है। फिर जब द्वारिका से, श्री बलराम जी ब्रज में एक बार वहाँ के सब लोगों से मिलने आये थे, तब उनकी क्रीड़ा के बारे में ऐसा लिखा है—"बलराम जी ने गोपियों के साथ वारुणि का पान किया ॥२०॥

पापों को पार कर जायगा। ज्ञानाग्नि में सब पाप भस्म हो जाते हैं। संसार में ज्ञान-तुल्य कुछ भी पवित्र नहीं है। ज्ञान की पूर्णता केवल श्रवण और मनन में नहीं है। इसलिये अपने अन्दर निदिध्यासन करके इसके अन्त में पहुँच कर, अपने अन्दर में ही ज्ञान की पूर्णता प्राप्य है।

जैसे गजराज हथनियों के साथ क्रीड़ा करता है, वैसे ही गोपियों के साथ जल-क्रीड़ा करने लगे ॥२८॥"

(श्री भा. सु., गीता प्रेस—स्क. १० अ. ६५)

श्रीकृष्ण भगवान् की गोपियों और कुब्जा के साथ क्रीड़ा का वर्णन जिनको इच्छा हो, स्वयं श्रीमद्भागवत पढ़ें। पुनः श्री बलराम जी की गोपियों के साथ क्रीड़ा का भी पूरा वर्णन श्रीमद्भागवत पढ़ कर जानें। श्रीमद्भागवत में लिखित इन क्रीड़ाओं का पूरा वर्णन लिखना मुझे नहीं सुहाता।

भगवान् के आलिंगन के विशेष गुण का प्रभाव गोपियों पर हुआ। उनके पाप और पुण्यरूप कर्म्म के परिणाम से बने हुए गुणमय शरीर का परित्याग हुआ और उन्होंने भगवान् की लीला में सम्मिलित होने योग्य अप्राकृत शरीर प्राप्त कर लिया। गोपियों के प्राकृत शरीर से भोगे जानेवाले कर्म्म-बन्धन तो ध्यान के समय ही छिन्न-भिन्न हो चुके थे। ऐसा श्रीभगवान् के आलिंगन का उपर्युक्त विशेष प्रभाव कुब्जा पर नहीं हुआ। तभी तो उसको 'अभागा' श्रीमद्भागवत में लिखा गया है। यदि यह कहा जाय कि गोपियाँ भगवान् के प्रति प्रथम जार-भाव के अतिरिक्त और कोई विशेष भाव रखती थीं, जो कुब्जा नहीं रखती थी, तो भागवत में वहीं पर यह लिखा है कि—"कहीं सत्य वस्तु भी भाव की अपेक्षा रखती है? उन्होंने जिनका आलिंगन किया, चाहे किसी भी भाव से किया हो, वे स्वयं परमात्मा ही तो थे।" भगवान् के इस प्रभाव से कुब्जा को भी गोपी ही की तरह होना चाहिये था, सो नहीं हुआ। गोपियाँ पुनः श्री बलराम जी की क्रीड़ा में भी सम्मिलित हुईं। तब भी

जितेन्द्रिय, श्रद्धावान् और ईश्वर-भक्त पुरुष, ज्ञान पाकर तुरत परम शान्ति पाता है। अज्ञानी और श्रद्धाहीन होकर जो संशययुक्त रहता है, वह नाश को प्राप्त होता है। अर्थात् कष्टमय जगत में पड़ा रहता है। उसे इस लोक और परलोक में कहीं भी शान्ति-सुख नहीं मिलता है। जो योग-द्वारा ज्ञानी बन. कर्म्म करता हुआ अकर्म्मी बन, संशयरहित हो जाता है,

---

उनके अप्राकृत शरीर ही रहे होंगे। क्या, अप्राकृत शरीर इन्द्रिय-गोचर होता है? अप्राकृत पदार्थ का इन्द्रिय-गोचर होना असम्भव है। श्री मद्भागवत के ऐसे वर्णनों को पढ़ कर मैं आश्चर्य्यित होता हूँ।

इन मोटे और बाहरी भावों से बचे रहकर, सन्तों के बताये आन्तरिक और सूक्ष्म भावों की ओर ही लोगों का लगना उचित है।

यज्ञ से बचे हुए भोजन के विषय में यह और विशेष जानना चाहिये कि, अन्तर-साधन काल में, तत्सम्बन्धी यज्ञ में प्राप्त सुख का प्रभाव, साधन छोड़ कर बाहरी कर्म्मों में बरतते समय भी रहता है। उसमें (बाह्य-कर्म्म में) पड़े रहने में भी उसका भोग होता रहता है। इसके भोगने को यज्ञ से बचे हुए का भोजन करना' कहना चाहिये, उक्त प्रकार के अभ्यासी वा याज्ञिक को ही आत्मपरायणता या ब्रह्मपरायणता, समत्व-योग, समत्व-बुद्धि, आत्मा-द्वारा आत्मा में सन्तुष्टि, स्थितप्रज्ञता, संयमशीलता, ब्राह्मी स्थिति विकारशून्यता, कर्म्म करते हुए कर्म्मों में अलिप्तता और ज्ञानी भक्त होने का गुण तथा शम-दम आदि गीता में वर्णित मोक्षदायक सब उच्चगुण प्राप्त हों, यही सम्भव है।

इन विषयों को प्रकाशित किये बिना 'गीता-ज्ञान' का सार छिपा रहेगा और सार-रहित 'गीता-ज्ञान' के प्रचार से संसार को हानि होगी।

यज्ञों का वर्णन करते हुए गीता में तप का भी आदेश है। गीता में वर्णित सब याज्ञिकों को तपी और उनके कर्म्मों को तप कहा जाय तो

उसको कर्म्मों का बन्धन नहीं होता है। इसलिये सब को चाहिये कि हृदयस्थ अज्ञान से उत्पन्न संशयों को ज्ञान-तलवार से काट, योग का अवलम्बन ग्रहण करे और संसार के कर्त्तव्यों का सम्पादन करने के लिये तैयार हों।

वस्तुतः श्रवण और मनन-ज्ञान-सहित योगाभ्यास करते रहकर संसार के कर्त्तव्यों को निर्लिप्तता से करते रहना उचित है, न कि संसार के कर्त्तव्यों को छोड़े रहना।

॥ चतुर्थ अध्याय समाप्त ॥

अनुचित नहीं होगा। इसके अतिरिक्त जो-जो तप जो करना चाहें और जिनसे जो बन सके, सो करें। और

"न तपस्तप इत्याहुर्ब्रह्मचर्य्यं तपोत्तमम्।
ऊर्ध्वरेता भवेद्यस्तु स देवो न तु मानुषः॥"

(ज्ञानसंकलिनी तन्त्र)

अर्थ—तप को तप नहीं कहते हैं, ब्रह्मचर्य्यानुष्ठान ही तप कह कर विशेष प्रसिद्ध किया गया है। जो मनुष्य ऊर्ध्वरेता हैं, वे देव तुल्य कहे गये हैं।

अध्याय–५

अथ कर्म्मसंन्यासयोग

इस अध्याय में कर्म्मयोग और संन्यासयोग; दोनों को एक दूसरे के पूरक बताये गये हैं।

किसी से द्वेष नहीं करने वाले और इच्छाविहीन रहने वाले को संन्यासी कहना चाहिये। सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से रहित को बन्धन से मुक्त कहना चाहिये। ऐसा पूर्ण संन्यासी होता है।

संन्यासी का भेष लेकर वा घर-गृहस्थी में ही रह कर यदि कोई अ० ४ में कहे गये साधनों को करे तो वह साधन में बढ़ता-बढ़ता अन्त में पूर्ण संन्यासी होगा। जैसे शरीर में मैल उपजती है, वैसे ही मन में इच्छायें (राजसी, तामसी और सात्विक) स्वाभाविक रूप से उपजती रहती हैं। योगाभ्यास-द्वारा मन-मण्डल को पार किये बिना, कोई इच्छाविहीन नहीं हो सकता है। मन-मण्डल कहाँ तक है –

"मन बुधि चित हंकार की, है त्रिकुटी लगि दौड़।
जन दरिया इनके परे, ररंकार की ठौड़॥"

(मारवाड़ी दरिया साहब)

केवल विचार से इच्छाओं का रोकना क्षणिक होगा, स्थायी नहीं। परन्तु यदि विचार-द्वारा उन्हें रोकने के साथ-साथ ध्यानाभ्यास किया जाय तो सुरत (चेतनात्मा) की ऊर्ध्व गति होगी और वह मन-मण्डल को पार कर जायगी। तब मनोलय हो जायगा, जिसके साथ इच्छा का भी लोप हो जायगा।

समत्व के विषय में लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक महोदय ने अपने 'गीता-रहस्य' के अध्यात्म-प्रकरण में क्या ही अच्छा कहा है—"संकट के समय भी पूरी समता से बर्ताव करने का अचल स्वभाव हो जावे; परन्तु इसके लिये (सुदैव से हमारे समान चार अक्षरों का कुछ ज्ञान होना ही बस नहीं है) अनेक पीढ़ियों के संस्कारों की, इन्द्रिय-निग्रह की, दीर्घोद्योग की तथा ध्यान और उपासना की सहायता अत्यन्त आवश्यक है।" सांख्यनिष्ठा और योगनिष्ठा, दोनों को अज्ञजन अज्ञान से दो जानते हैं। यथार्थ में दोनों एक ही हैं। एक के बिना दूसरा मोक्षदायक हो ही नहीं सकता।

"योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवति ध्रुवम्........."

(कृपया पृष्ठ ५ की टिप्पणी देखें)

सांख्य मे निष्ठा वालों के लिये, श्रवण, मनन और स्वाध्याय-द्वारा परोक्ष अध्यात्मज्ञान की प्राथमिक पूंजी जिस तरह अनिवार्य रूप से अपेक्षित है, ठीक उसी भाँति यह कर्म्मयोगी के लिये भी है। तथा दोनों को पूर्णावस्था तक पहुँचाने के लिये प्राणायाम-सहित ध्यानोपासना-योग वा केवल ध्यानोपासना-योग भी अत्यन्त अपेक्षित है। इसके बिना, दोनों के दोनों, लँगड़े और अपूर्ण रहेंगे। ये दोनों निष्ठा वाले यदि उक्त साधनों की अवहेलना करेंगे और अपने-अपने को सांख्यनिष्ठ और कर्म्मयोगनिष्ठ घोषित करेंगे तो दोनों ही केवल डींग ही हाँका करेंगे और यथार्थता से दूर ही रहेंगे।

"वाक्य ज्ञान अत्यन्त निपुण भव पार न पावइ कोई।
निसि गृह मध्य दीप की बातन्हि, तम निवृत्त नहिं होई॥"

(गो० तुलसीदास जी)

और—

"तेल तूल पावक पुट भरि धरि, बनै न दिया प्रकाशत।
कहत बनाय दीप की बातें, कैसे हो तम नाशत।।"
(भक्तप्रवर सूरदास जी)

सांख्यज्ञान वा संन्यासयोग में कुछ न कुछ कर्म्मयोग का संग अवश्य रहेगा; क्योंकि स्वल्पातिस्वल्प का भी संग्रह उसको अवश्य रहेगा, जिसमें उसको कर्म्मयोग के नियम से बरतना पड़ेगा। कर्म्मयोगी को तो अपने विविध संग्रहों और कर्त्तव्यों में अपने हृदय को परम त्यागी वा संन्यासी बनाये रख कर ही कर्म्म करना पड़ेगा। इस भाँति किसी न किसी प्रकार कर्म्मयोग से ही कर्म्म का त्याग हो सकेगा। कर्म्म में अकर्म्मा, कर्म्मफल-त्यागी हो, प्रथम कथित ध्यानोपासना आदि साधन करके समत्व लाभ करेगा। ऐसे मुनि को मोक्ष की प्राप्ति में विलम्ब नहीं होगा। ऐसा योगी तत्त्वज्ञ होता है। वह मन, वच और शरीर के कर्म्मों में निर्लिप्त रहता है। जैसे पानी में कमल निर्लिप्त रहता है, वैसे पाप उसको नहीं छू सकता है। साधनावस्था में उसके सब कर्म्म, आत्मशुद्धि के लिये होकर, ब्रह्मार्पण हो जाते है। वह योगी समतावान् और कर्म्मफल-त्यागी बन कर परम शान्ति पाता है। परन्तु अयोगी बन्धन में पड़ा रहता है। इस तरह योगी पुरुष नौ छिद्रों वा द्वारों (आँखों के दो, कानों के दो, नाक के दो, मुँह का एक, लिंग का एक और गुदा का एक) वाले शरीर-नगर में संयमपूर्वक रहते हुए, कर्म्मरत रह कर भी अकर्म्मी बना रहता है। उसका मन कर्म्मफल में आसक्त नहीं होता है। ऐसा इसलिये कि योग से उसको पूर्ण वा अपरोक्ष आत्म-ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इन्द्रिय-सम्बन्धी सुखों से वह ऊपर उठ कर ब्रह्म-सुख का भोगी हो जाता है। मन पूर्ण रूप से उसके वश में हो जाता है। तब इन्द्रिय-सम्बन्धी सुख-दुःख-उत्पादक बाह्य भोगों में उसका मन क्यों लिप्त होगा?

परन्तु वर्णित स्थिति पर आये बिना, केवल बुद्धि-शक्ति के
ह प्रयास से मन की यह निर्लिप्त दशा होनी असम्भव है।
आत्मज्ञान से अज्ञान को पूर्णरूपेण विनष्ट करके उस आत्म-
तेजोमय सूर्य-ज्ञान से परम तत्त्व परमात्मा का दर्शन होता है
अर्थात् आत्मा से ही परमात्मा का ज्ञान होना सम्भव है। ऐसे
दर्शन करने वाले का पाप धुल जाता है। वह परमात्म-परायण
होकर, उन्हीं में तन्मय रहते हुए और उन्हीं को सर्वस्व-रूप में
पाते हुए मुक्त दशा में रहता है। वह संसार, संसार के सब
पदार्थों और सब ऊंच-नीच शरीरधारियों में समदर्शी हो जाता
है। मानो वह संसार पर विजय प्राप्त किये हुए होता है। अपने
को निष्कलंक ब्रह्ममय बना लेता है, क्योंकि वह ब्रह्म में लीन
रहता है। सांसारिक सुख-दुःख से रहित रहता हुआ, बाह्य
विषयों में आसक्तिहीन, आन्तरिक आनन्द का भोगी, वह ब्रह्म-
परायण अक्षय आनन्द को पाता है। काम-क्रोधादि विकारों से
रहित होकर अन्तर्ज्योति-प्राप्त वह जीवन मुक्त योगी पुरुष ब्रह्म-
निर्वाणपाता है। चतुर वा बुद्धिमान विषय-जनित भोग को दुःख
का कारण और आदि-अन्त वाला जान कर उसमें रत नहीं
होता है।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चौर कर्म्म से रहित), ब्रह्मचर्य्य
(वीर्य-निग्रह) और अपरिग्रह (आवश्यकता से अधिक का संग्रह
वा संचय न करना); ये पाँच यम कहलाते हैं। शौच, सन्तोष,
तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान—ये पाँच नियम कहलाते
हैं। यम-नियम का पालन करते हुए, बाह्य विषय-भोग में
अलिप्त रह कर, दृष्टि को भौओं के बीच में स्थिर रख कर,
नाक से आने-जाने वाले प्राण और अपान वायुओं की गति को
सम करके इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि को वश में करके तथा इच्छा,
भय और क्रोध से रहित होकर, जो मननशील (मुनि) मोक्ष-

साधन में लगा रहता है, वह सदा मुक्त ही है। वह यज्ञ और तप के भोक्ता, सब के हित करने वाले और सब लोकों के महाप्रभु कृष्ण—परमात्मा को पहचानता हुआ शान्ति प्राप्त करता है।

कतिपय साधक, पूरक तथा कुंभक के साधनों से प्राण-अपान वायुओं को सम किया करते हैं; किन्तु यह क्रिया निरापद नहीं है। परन्तु भौओं के बीच में दृष्टि को स्थिर रखने से, अर्थात् दृष्टि-योग-साधन से भी प्राणायाम के उपर्युक्त साधनों को किये बिना ही, कथित दोनों वायुओं के सम होने से प्राणस्पन्दन निरुद्ध होता है।† यह साधन निरापद है। अवश्य ही इसकी ठीक और उत्तम युक्ति जान कर अभ्यास करना चाहिये। नहीं तो आँखें बिगड़ने का इसमें भी डर है। दृष्टि का अर्थ—नजर, निगाह, देखने की शक्ति है—न कि डीम और पुतली। इसके अभ्यास से मन और दृष्टि की एकबिन्दुता होती है, चित्तवृत्ति का पूर्ण सिमटाव होता है और इस सिमटाव से, सिमटाव के स्वभावानुकूल मन और चेतन वा सुरत की ऊर्ध्व गति हो जाती है। और ऊर्ध्व गति पर ही—समत्व, स्थितप्रज्ञता, सांख्य वा ज्ञाननिष्ठा की पूर्णता वा कर्म्मयोग की पूर्णता, आत्मदर्शन, आकर्षक वा श्रीकृष्ण परमात्मा का दर्शन और ब्रह्मनिर्वाण; सबके सब सम्पूर्णतः अवलम्बित हैं।

॥ पंचम अध्याय समाप्त ॥

---

†भ्रूमध्ये तारकालोकशान्तावन्तमुपागते ।
चेतनैकतने बद्धे प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥३३॥

(शाण्डिल्योपनिषद)

अर्थ—जब चेतन अथवा सुरत भौओं के बीच के तारक लोक (तारा-मण्डल) में पहुँच कर स्थिर होती है, तब प्राण की गति बन्द हो जाती है।

अध्याय—६

अथ ध्यानयोग

इस अध्याय का विषय ध्यानयोग है।

प्रथम अध्याय का विषय 'अर्जुन-विषाद-योग' था। द्वितीय अध्याय में विषाद दूर करने के हेतु श्री भगवान् ने 'सांख्ययोग' अर्जुन को सुनाया। आत्मा तथा शरीर (अनात्मा) की अमरता तथा नश्वरता के ज्ञान को ही सांख्यज्ञान वा अध्यात्मज्ञान श्रीमद्भगवद्गीता के अनुकूल जानना चाहिये।

आत्मज्ञान से जब बुद्धि स्थिर हो जाती है, तब समत्व प्राप्त होता है। समत्व से द्वैत और द्वन्द्व मिटते हैं तथा सब दुःखों को दूर करने वाला ब्रह्म-निर्वाण प्राप्त होता है। परन्तु बुद्धि की पूर्ण स्थिरता समाधि में होती है (गी० अ० २ श्लो० ५३)। और आत्मज्ञान भी समाधि में ही पूर्ण होता है। जिसकी बुद्धि समाधि में दृढ़ एवं स्थिर हो जाती है, उसे स्थितप्रज्ञ कहते हैं। ऐसी अवस्था में समाधि-साधक को ईश्वर पहचानने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। गीता अ० २ के वर्णनानुसार इस साधन-विशेष के द्वारा समाधि की सिद्धि का लाभ करना अत्यावश्यक हो जाता है।

सांसारिक कर्त्तव्यों का अनासक्त भाव से पूर्णरूपेण पालन करते हुए साधन-विशेष-द्वारा समाधि की सिद्धि का लाभ हो, श्रीद्भगवद्गीता इसी को उत्तम बतलाती है। इसीलिये तीसरे, चौथे और पाँचवें अध्यायों में कर्म्मयोग, ज्ञानकर्म्म-संन्यास-योग और कर्म्म-संन्यास-योग का वर्णन करके कथित समाधि के विशेष और सरलतम साधन का वर्णन छठे अध्याय में किया गया है।

समाधि प्राप्त करने के विशेष साधन को ही 'ध्यानयोग' कहते हैं। इसके लिये कर्म्मों का त्याग न करके मानस-ध्यान में लगे हुए कर्म्मों को करते रहना चाहिये। उनको अहं और फल-आश छोड़ कर गृही रहते हुए [अर्थात् गृहस्थी में ही विरक्त (संन्यासी) बन कर्म्मयोगी होकर] ध्यानयोग का अभ्यास करना चाहिये। इस अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण का यही उपदेश है।

योगी बनने के लिये कर्म्म (कर्म्मफलों में अनासक्त रह कर कर्म्म करना तथा एकान्त में केवल ध्यानयोग करने का कर्म्म करना—ये दोनों ही कर्म्म हैं।) साधन है। और योग में सिद्धि-लाभ होने पर शम अर्थात् मनोनिग्रह, कर्म्म का साधन बन जाता है। शम की सिद्धि के बिना कर्म्मों और विषयों में अनासक्त होना असम्भव है। जब यह आसक्ति और सब संकल्प छूट जाते हैं तब अभ्यासी योगारूढ़ (योग पर चढ़ा हुआ) कहलाता है। यह असाध्य और असम्भव नहीं है। प्रतिदिन के बाह्य-कर्त्तव्यों के लिये जैसे समय बाँट-बाँट कर उनका सम्पादन करना चाहिये, उसी तरह नित्य एकान्त में बैठ कर ध्यानयोग का भी अभ्यास करने के लिये अपने समय का भाग होना चाहिये।

मनुष्य अपना उद्धार आप करे। अपनी अधोगति न करे। जिसने अपने मन को जीता है, वह अपना मित्र और जिसने नहीं जीता है. वह अपना शत्रु है। जो मन को जीत कर पूर्णरूपेण शान्त हो गया है, वह ठण्ढ, गर्मी सुख-दुःख और मानापमान में समान रहता है। इन्द्रियों को जीतने वाला, ज्ञान और विज्ञान से तृप्त, कूटस्थ अर्थात् मूल (परमात्म पद) में पहुँचा हुआ, सोने और मिट्टी को तुल्य जानने वाला और परमात्मा के प्रत्यक्ष ज्ञान से युक्त, योगी कहलाता है। जो सुहृद, शत्रु, मित्र आदि सब प्रकार के लोगों में समान भाव रखने वाला है, वह श्रेष्ठ पुरुष है।

उपर्युक्त योग्यता को प्राप्त करने के लिये चाहिये कि योगाभ्यासी एकान्त में अकेला रह कर विचार-द्वारा अपने मन पर काबू रखते हुए तथा संग्रहों को त्यागते हुए सदा (नित्य नियत समयों पर) योगाभ्यास करें। सदा (सतत) शब्द से ऐसा समझना कि दूसरा कोई काम न करते हुए, दिन-रात के सम्पूर्ण समय (चौबीसो घंटे) जीवन भर योगाभ्यास करें, ऐसा हो सकना असम्भव है। शौचादि नित्यकर्म, भोजन, शयन, जीविकोपार्जन तथा अन्य कर्त्तव्यों के किये बिना कोई कदापि नहीं रह सकता है। इन कर्म्मों में जैसे समय बांट-चांट कर नित्य लगाना होगा, उसी तरह नित्य प्रति योगाभ्यास के लिये भी समय नियत रख कर अभ्यास करना होगा।

जो ऐसा कहते हैं—"एकान्त में अकेला रहकर ध्यानाभ्यास में समय लगाने की आवश्यकता नहीं है, बल्कि गीता में बतायी हुई विधियों से मन पर संयम रखते हुए तथा कर्त्तव्यों का पालन करते हुए केवल कर्म्मयोग के ही अभ्यास से स्थितप्रज्ञता तथा परम सिद्धि मिल जायगी।" और यह भी कहते हैं—"वर्त्तमान युग एकान्त में ध्यान-अभ्यास करने का नहीं है।" मेरा उनसे निवेदन है कि उपर्युक्त उक्ति चाहे जिस किसी भी महापुरुष की हो, वे अवश्य ही भूल में हैं। यदि वे समाधि, स्थितप्रज्ञता तथा सिद्धावस्था के विषय में जानकार हैं, तो अपने किसी विशेष कार्य-सम्पादन के हेतु देश में भ्रांतिपूर्ण विचार फैला रहे हैं और देश-हितैषी कहलाते हुए भी देश की आध्यात्मिक हानि कर रहे हैं। अन्यथा वे अवश्य ही समाधि, स्थितप्रज्ञता तथा सिद्धावस्था के विषय के पूर्ण ज्ञाता नहीं हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता के दूसरे अध्याय में ही कह दिया है—"समाधि में स्थितप्रज्ञता होगी, तब समत्व प्राप्त होगा

(श्लोक० ५३)।" स्थितप्रज्ञता और समत्व के बिना अन्यान्य विधियों से कर्म्मयोग में सिद्धिलाभ नहीं हो सकती है। इसी-लिये इस अध्याय के श्लोक ३ के अनुसार योगी बनने में कर्म्म (अर्थात् ध्यानाभ्यास रूप कर्म्म और बाह्य कर्त्तव्यों के विधिवत् सम्पादन का कर्म्म) उसका साधन और योगी बन चुकने पर (अर्थात् योग की पूरी सिद्धि) अथवा सिद्धावस्था प्राप्त होने पर शम (मन पर पूर्ण अधिकार) कर्म्म का साधन बन जाता है। और इसकी सिद्धि के हेतु श्लोक १० में एकान्त में अकेला रहकर योगाभ्यास करने को कहा गया है।

स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण एकान्त में अकेला रहकर योगाभ्यास करते थे।

"ब्राह्में मुहूर्त्ते उत्थाय वार्युपस्पृश्य माधवः।
दध्यौ प्रसन्नकरण आत्मानं तमसः परम्॥

(श्रीमद्भागवत, स्कन्ध १० अध्याय ७० श्लोक ४)

अर्थ—भगवान् श्रीकृष्ण प्रतिदिन ब्राह्ममुहूर्त्त में ही उठ जाते और हाथ-मुँह धोकर अपने मायातीत आत्म-स्वरूप का ध्यान करने लगते। उस समय उनका रोम-रोम आनन्द से खिल उठता था॥४॥

भगवान् श्रीकृष्ण गीता-ज्ञान के आदिगुरु हैं। उन्होंने केवल पांडव अर्जुन को ही इस ज्ञान की शिक्षा दी थी सो नहीं, अर्जुन से बहुत पूर्व उन्होंने अपने इस जन्म के पूर्व ही यह शिक्षा पहले-पहल विवस्वान् (सूर्य्य) को दी थी (अध्याय ४ श्लोक १)। अध्याय ३ के २०, २१, २२, २३ और २४ श्लोकों से विदित होता है कि श्रीभगवान् कहते हैं—"उत्तम पुरुष के आचरण का अनुकरण लोग करते हैं—और उत्तम पुरुष जिसे प्रमाण बनाते हैं, उसका लोग अनुसरण करते हैं।" भगवान् श्रीकृष्ण को

यद्यपि तीनों लोकों में न कुछ करना था और न उन्हें कुछ भी अप्राप्त ही था; तथापि वे उपर्युक्त कारणों से कर्त्तव्य कर्म्मों में कुछ भी रुके बिना लगे रहते थे, ताकि लोग उनका अनुकरण और अनुसरण करें। नहीं तो सारे लोक नष्ट हो जायेंगे और वे स्वयं अव्यवस्था के कर्त्ता बनेंगे तथा लोकों का नाश करने वाले होंगे। भगवान् श्रीकृष्ण ध्यान-योगाभ्यास नित्य-प्रति उपर्युक्त कारण से ही करते थे, नहीं तो उनको स्वयं अपने लिये इसकी कुछ भी आवश्यकता नहीं थी।

गीता में इसकी विधि भी इस अध्याय में है ही। तब जो इसकी अवहेलना करते हैं और श्रीभगवान् के विचार का उल्लंघन करते हैं, चाहे वे कोई भी हों, उनका विचार मानने योग्य नहीं है। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक और महात्मा गांधी के सदृश सफल घोर कर्म्मयोगियों को भी एकान्त में ध्यानाभ्यास करना अत्यन्त आवश्यक जान पड़ता था। तिलक महोदय जी अपने गीता-रहस्य में कहते है—"परमेश्वर-स्वरूप की इस प्रकार पूरी पहचान हो जावे कि एक ही परब्रह्म सब प्राणियों में व्याप्त है और उसी भाव से संकट के समय भी पूरी समता से बर्त्ताव करने का अचल स्वभाव हो जावे; परन्तु इसके लिये (सुदैव से हमारे समान चार अक्षरों का कुछ ज्ञान होना ही बस नहीं है।) अनेक पीढ़ियों के संस्कार की, इन्द्रियनिग्रह की, दीर्घोद्योग की तथा ध्यान और उपासना की सहायता अत्यन्त आवश्यक है (गीता-रहस्य, अध्यात्म प्रक० पृष्ठ २४७)।"

महात्मा गांधी अनासक्ति योग, अध्याय २ श्लोक ६९ की टिप्पणी में कहते हैं—"भोगी मनुष्य रात के बारह-एक बजे तक नाच, रंग, खान-पान आदि में अपना समय बिताते हैं और फिर सबेरे ७-८ बजे तक सोते हैं। संयमी रात के सात-आठ बजे सोकर

मध्य रात्रि में उठकर ईश्वर का ध्यान करते हैं। साथ ही भोगी संसार का प्रपंच बढ़ाता है और ईश्वर को भूलता है। उधर संयमी सांसारिक प्रपंचों से अनजान रहता है और ईश्वर का साक्षात्कार करता है।" इन उद्धरणों से यही सिद्ध है कि चाहे कोई कैसा भी कर्म्मयोगी हो, उसको ध्यानाभ्यास नित्य नियमित रूप से सतत, जीवन-भर अवश्य करना चाहिये।

श्रीमद्भगवद्गीता जिस वृहदाकार ग्रन्थ 'महाभारत' के भीष्मपर्व का एक बहुत छोटा, परन्तु अत्यन्त तेजस्वी अंश है, उस महाभारत के शान्ति पर्व (पूर्वार्द्ध, मोक्षधर्म) अध्याय ६७ में श्री व्यासदेवजी का वाक्य है—"तीनों काल (ब्राह्ममुहूर्त मध्याह्न और सायंकाल) योग का अभ्यास करे। जैसे पात्रों का चाहने वाला मनुष्य पात्रों की रक्षा करता है; उसी प्रकार एकाग्रता का अभ्यास करने वाला इन्द्रियों के समूह को हृदय कमल‡ में नियत करके सदैव ध्यान करे और योग से चित्त को भयभीत न करे। जिस युक्ति से इस चंचल चित्त को वश में करे, उसी का सेवन करे और तद्रूप होकर चलायमान न हो, वह सावधान योगी है।"

"इस शान्त-चित्तरूप योग से शूद्र और धर्म जानने वाली स्त्रियाँ भी परमगति को पाती हैं। परन्तु शान्त चित्तरूप योग-मार्ग में स्त्री और शूद्र भी अधिकारी हैं।" इस बात को विद्वान् और बुद्धिमान् निश्चय ही समझ सकते हैं कि भगवद्गीता और महाभारत के ज्ञान में एक मेल होना चाहिये।

---

‡इसे योगहृदय, कंजाकमल अथवा आज्ञाचक्रान्तर्गत शून्यमण्डल भी कहते हैं।

"दशेन्द्रिय थाके शून्यते बन्धन।"

(बंगला 'योगसंगीत' का पद्य)

भ० गीता के इस अध्याय में ध्यानयोग वा योगाभ्यास करने की जो विधि है, अब सो लिखी जाती है। पवित्र और एकान्त स्थान में, अपने योग्यतानुसार पवित्र आसनी बिछावे। स्थान न बहुत ऊँचा हो न बहुत नीचा, समतल हो। वहाँ शरीर, गर्दन तथा मस्तक को सीधा और निश्चल करके बैठे। दिशाओं का देखना छोड़ कर नासिकाग्र† को देखता हुआ, परमात्मपरायण होता हुआ ब्रह्मचर्य में दृढ़ रह कर, योगी परमात्मदेव का ध्यान करता हुआ बैठे। शरीर, गर्दन और सिर सीधा रखने से मेरुदण्ड सीधा रहेगा। इसके सीधा और स्थिर रहने से श्वास-प्रश्वास की गति धीमी-धीमी होती रहेगी। इस तरह उसकी गति होते रहने के कारण मन की चंचलता कम होगी। यह ध्यानयोग में लाभदायक और सहायक है। परन्तु दृष्टि का लक्ष्य नासाग्र में अवश्य बनाये रखना चाहिये। उपर्युक्त रीति से तन कर बैठने और ध्यानयोग का अभ्यास करने से परमात्मपरायण योगी के मन का चक्र अवश्य बन्द होगा।

जिनको परमात्मदेव में आन्तरिक प्रीति और परायणता नहीं, उन्हें केवल बाहरी और आडम्बरी परायणता हो तथा एकान्त में बैठ कर न आप इस अभ्यास में अपना समय लगाना चाहें और न

---

† 'भ्रूवोर्मध्य', 'नासाग्र' अथवा 'नासिकाग्र' कह कर ध्यान स्थिर करने के स्थान का संकेत, प्राचीन काल में साधक करते चले आ रहे हैं। जैसे—निम्नलिखित कथा में, गुप्त धन रखने के स्थान का संकेत है।

एक सेठ ने अपने गुप्त धन रखने का स्थान अपने वही-खाते में लिखकर रख दिया था, कि अमुक महीने की अमुक तिथि के दिन, दोपहर के समय धन अमुक ताड़ गाछ की फुनगी पर रखा है जब वह मर गया और उसके बेटे ने जब इसे पढ़ा तो अति आश्चर्यित हुआ कि ताड़ वृक्ष तो अभी वर्त्तमान है, पर वहाँ तो धन है नहीं! और सोचा—कि वहाँ धन रह भी सकता है कैसे?

दूसरों को इसमें समय लगाने की सलाह देना चाहें तो वह परमात्म-देव की प्राप्ति, स्थितप्रज्ञता और पूर्ण कर्म्मयोगी होने की उपर्युक्त बातों को मान कर आप अभ्यास करें और दूसरों को भी इसके लिये सलाह दें; कैसे सम्भव हो सकता है? उनको तो केवल कर्म्म-योग का ही अभ्यास, ध्यान-योगाभ्यास के बिना ही करना है।

उपर्युक्त ध्यानाभ्यास के बिना स्थितप्रज्ञता और स्थितप्रज्ञता के बिना कर्म्मयोग में पूर्णता श्रीमद्भगवद्गीता नहीं बतलाती है। कर्म्मयोग और ध्यानयोग गीता के अनुकूल करते जाना उत्तम है। न कर्म्मयोग छोड़ो और न ध्यानयोग। यही श्रेष्ठ विधि परमात्म-प्राप्ति की तथा संसार के समयानुकूल निज कर्त्तव्यों के पालन करने की है।

मोक्षार्थी को ध्यान और सेवा-कर्म्म; दोनों संग-संग अवश्य करना ही पड़ता है। क्योंकि सेवा-कर्म्म किये बिना संसार में

उसके पिता के समय का एक वृद्ध मुनीम था। जब लड़के ने इस विषय में उससे पूछा तब उस वृद्ध ने कहा—"वह महीना, तिथि और वह समय आने दो तो मैं बतला दूंगा।" जब वह समय आ गया तब उस वृद्ध ने उस सेठ के पुत्र को उस स्थान पर ले जाकर ताड़ गाछ की फुनगी की छाया जहाँ पड़ती थी, वह स्थान बता दिया और बोला कि इसी जगह में वह धन गड़ा है। सेठ-पुत्र ने कोड़ कर अपना धन निकाल लिया।

इसी भाँति भ्रूवोर्मध्य, नासाग्र अथवा नासिकाग्र का यथार्थ स्थान भेदी गुरुमुखभक्त से, जिसे दूसरों को बतला देने की गुरु-आज्ञा हो, जाना जा सकता है।

"नैन नासिका अग्र हैं, तहाँ ब्रह्म को बास।
अविनाशी विनसै नहीं, हो सहज जोत परकास॥"

(श्री सूरदास जी)

(कल्याण के वेदान्त अङ्क पृष्ठ ५८५ से उद्धृत)

निवास ही नहीं हो सकता है। सेवा-कर्म्म करने के गीता में बताये हुये ढंग से विचार रख तथा मन पर संयम रखते हुए कर्म्म-सम्पादन करना उसके लिये नितान्त आवश्यक है।

कोई केवल आध्यात्मिक सेवा, कोई केवल आधिभौतिक सेवा और कोई आध्यात्मिक और आधिभौतिक; दोनों सेवाओं का भार अपनी-अपनी योग्यता तथा देश और काल की माँग के अनुसार अपने-अपने ऊपर धारण और उनका सम्पादन करते हुए, तथा मोक्ष-धर्म का पालन करते हुए, जीवन व्यतीत किये हैं, करते हैं और करेंगे। ये सब के सब कर्म्मयोगी ही माने जायेंगे। इनमें से कोई यदि यह कहे कि "मैं जो करता हूँ, वही कर्म्मयोग है, मैं ही कर्म्मयोगी हूँ और अन्य का न तो कर्म्मयोग है और न वे कर्म्मयोगी हैं;" तो उनकी यह उक्ति घमण्ड से भरी हुई है, वे आत्म-प्रशंसक हैं और यथार्थतः वे कर्म्मयोगी हैं ही नहीं। वे कर्म्मयोगी-से केवल दीखते हैं, किन्तु मुमुक्षु* नहीं हैं और मुमुक्षु के गुणों से हीन को कर्म्मयोग सिद्ध नहीं होगा।

ऐसे लोग अपनी यह भी अभिलाषा प्रकट करते है कि "सब लोग स्वधारित कर्म्मों को छोड़ कर मेरे ही विचार का अनुसरण करें तो देश की सामयिक सेवा होगी, नहीं तो देश खतरे में गिरेगा।" उनकी यह अभिलाषा अयोग्य है।

जब तक किसी देश का आध्यात्मिक स्तर उत्तम और ऊँचा नहीं होगा, तब तक उस देश में सदाचारिता ऊँची और उत्तम नहीं होगी। जब तक सदाचारिता ऐसी नहीं रहेगी, तब तक सामाजिक नीति अच्छी और शान्तिदायक नहीं होगी। बुरी

---

* कर्म्मयोग का अभ्यासी मुमुक्षु होता है और कर्म्मयोग में पारंगत जीवन्मुक्त होता है।

सामाजिक नीति के कारण राजनीति-शासन सँभाल के योग्य हो नहीं सकेगी और उस देश में अशान्ति फैली हुई रहेगी।

इन बातों को भूल कर देश में केवल धन और भूमि के बँटवारे का प्रयास देश में शान्ति लाने में असफल ही रहेगा। देश की जनता में धन और भूमि के बँटवारे से पहले ही उनकी आध्यात्मिकता का स्तर उत्तम और ऊँचा उठाने का प्रयास कर उसकी सदाचारिता को ऊँची उठा, उसे सत्य, सन्तोष और अहिंसा का पाठ पढ़ा, उसे धन देकर उसका दारिद्र्य और अभाव दूर करना युक्तिसंगत है। आध्यात्मिकता और सदाचारिता से विहीन तथा सत्य, सन्तोष और अहिंसा से दूर रहने वालों में केवल धन और भूमि की प्राप्ति शान्ति नहीं ला सकती है। इन सद्गुणों से रहितों को कितने धन और ऐश्वर्य से सन्तुष्ट किया जा सकेगा, इसकी माप ही नहीं है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपनी 'विनयपत्रिका' में ठीक ही कहा है—

"द्रव्यहीन दुख लहै दुसह अति, सुख सपनेहु नहिं पावै।
उभय प्रकार प्रेत पावक ज्यों, धन दुखप्रद श्रुति गावै॥"

जनता के दोनों वर्गों (धनी और निर्धन) में आध्यात्मिकता, सदाचारिता, सत्य, सन्तोष और अहिंसा का प्रचार अधिक से अधिक करके, उन्हें इन सद्गुणों से युक्त किये बिना केवल धन किसी से लेकर, किसी को देने से देश में शान्ति विराजती रहे; असम्भव है। अपने देश में अब स्वराज्य है, परन्तु एक को दूसरे से धन माँग कर तीसरे को देने की आवश्यकता क्यों जान पडी है ? और वे इसके लिये घोर प्रयास क्यों कर रहे हैं ? यदि देश के दोनों वर्ग, उपर्युक्त सद्गुणों को धारण किये होते, तो उपर्युक्त प्रयासी को कथित प्रयास नहीं करना पड़ता। जनता के दोनों वर्ग आपस में स्वतः एक दूसरे को सुख पहुँचा कर शान्तिपूर्वक रहते।

गोस्वामी तुलसीदास जी के निम्नलिखित सदुपदेशों को पूर्ण विश्वास से मानना चाहिये और कभी न भूलना चाहिये—

"बिन सन्तोष न काम नसाहीं।
काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं॥
राम भजन बिनु मिटहिं कि कामा।
थल विहीन तरु कबहुँ कि जामा॥"

श्रीमद्भगवद्गीता के दूसरे अध्याय में योग-समाधि से बुद्धि की स्थिरता, समत्व की प्राप्ति, अपने से अपने में ही संतुष्ट रह कर स्थितप्रज्ञ होने का तथा समत्व को ही योग जानने के अनेक उत्तम-उत्तम सदुपदेश दिये गये हैं। किसी प्रकार धन प्राप्त करके उसके द्वारा समता और सन्तोष प्राप्त होगा, यह उपदेश गीता में नहीं है। गीता के अनुकूल पूर्ण कर्म्मयोगी महापुरुष को समत्व-प्राप्त स्थितप्रज्ञ कहा गया है। स्थितप्रज्ञता समाधि-साधन से मिलेगी। इसी हेतु समाधि-साधन की सरलतम अभ्यास-विधि इस छठे अध्याय में बतलाने की पूर्ण आवश्यकता जान कर बतलायी गई है। इस अभ्यास-विधि में नासिकाग्र में दृष्टि रखने को कहा गया है। महात्मा गाँधी जी ने भृकुटी के बीच के भाग को नासिकाग्र कहा है।† लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक जी ने नाक की नोंक को नासिकाग्र कहा है।† शाण्डिल्योपनिषद् अध्याय १ में भी नासिकाग्र * में देखना कहा है। यथा—

"......विद्वान्समग्रीवशिरोनासाग्रदृगभ्रूमध्ये।
शशभृद्बिम्बं पश्यन्नेत्राभ्याममृतं पिवेत्..........॥५॥"

---

† अनासक्तियोग अध्याय ६ श्लोक १३, १४ के नीचे टिप्पणी में तथा गीता-रहस्य, गीता-अध्याय ६ श्लोक १३ देखें।

* इसका सच्चा रहस्य अच्छे अभ्यासी और सच्चे सद्गुरु से जानना चाहिये; यह गुरुगम्य है।

और—

"........द्वादशांगुलपर्यन्ते नासाग्रे विमलेऽम्बरे।
संविद्दृशि प्रशाम्यन्त्यां प्राणस्पन्दो निरुध्यते........॥३२॥"

अर्थ—विद्वान् गला और सिर को सीधा करके नासिका के आगे दृष्टि रखते हुए, भौओं के बीच में चन्द्रमा के बिम्ब को देखते हुए, नेत्रों से अमृत का पान करे। जब ज्ञानदृष्टि (सुरत, चेतन-वृत्ति) नासाग्र से बारह अंगुल पर स्वच्छ आकाश में स्थिर हो, तो प्राण का स्पन्दन रुद्ध हो जाता है।† मण्डल ब्राह्मणोपनिषद् ब्रा० २ में इसको शाम्भवी मुद्रा (दृष्टियोग) कहा गया है—

"तद्दर्शने तिस्रो मूर्त्तयः अमा प्रतिपत्पूर्णिमा चेति।
निमीलितदर्शनममादृष्टिः। अर्धोन्मीलितं प्रतिपत्।
सर्वोन्मीलनं पूर्णिमा भवति। ...... तल्लक्ष्यं नासाग्रम्।
.... तदभ्यासान्मनःस्थैर्यम्। ततो वायुस्थैर्यम्।"

अर्थ—उसके देखने के लिये तीन दृष्टियाँ होती हैं; अमावस्या, प्रतिपदा और पूर्णिमा। आँख बन्द कर देखना अमादृष्टि है, आधी आँख खोलकर देखना प्रतिपदा है और पूरी आँख खोलकर देखना पूर्णिमा है। उसका लक्ष्य नासाग्र होना चाहिये। उसके अभ्यास से मन की स्थिरता होती है। इससे वायु स्थिर होता है।

---

† नासाग्र का पता जाबालोपनिषद् के इस प्रसंग के पढ़ने से लगता है—

"अथ हैनमत्रिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यं य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा तं कथमहं विजानीयामिति॥

स होवाच याज्ञवल्क्यः सोऽविमुक्त उपास्यो य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा सोऽविमुक्ते प्रतिष्ठित इति॥ सोऽविमुक्तः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति। वरणायां नाश्यां च मध्ये प्रतिष्ठित इति। का वै वरणा का च नशीति। सर्वानिन्द्रियकृतान्दोषान्वारवतीति तेन वरणा भवति॥

कोई-कोई अमादृष्टि से (आँख बन्द कर) अभ्यास करने को मना करते हैं। यह कह कर कि इसमें नींद आ जाती है और कोई इस अभ्यास को यह कहकर तिरस्कृत करते हैं कि "आँख का मूंदना बक्क का काम हैं।" परन्तु मेरा निवेदन यह है कि अमादृष्टि से ध्यानाभ्यास करना विशेष निरापद और सरल है। आँखों को आधी वा पूरी खोलकर अभ्यास करने से आँखों में विशेष कष्ट अवश्य ही होगा। इसलिये यह न सरल है और न निरापद ही कहा जा सकता है। फिर भी इनसे ही जो अभ्यास करना चाहते हैं, वे करें। परन्तु, उनको नहीं चाहिये कि अमादृष्टि-द्वारा अभ्यास का तिरस्कार करते हुए वे दूसरों को इसके द्वारा अभ्यास करने से मना करें।

सर्वानिन्द्रियकृतान्पापान्नाशयतीति तेन नाशी भवतीति ॥ कतमं चास्य स्थानं भवतीति। भ्रुवोर्घ्राणस्य च यः सन्धिः स एष द्युर्लोकस्य परस्य च सन्धिर्भवतीति। एतद्वै सन्धिं सन्ध्यां ब्रह्मविद् उपासत इति ॥२॥"

अर्थ—अत्रि ऋषि ने इसके बाद याज्ञवल्क्य से पूछा—"जो ऐसा अनन्त अव्यक्त आत्मा है, उसको हम कैसे जानें?" याज्ञवल्क्य ने कहा—"वह अविमुक्त आत्मा ही उपासना-योग्य है। वह अनन्त अव्यक्त आत्मा अविमुक्त में प्रतिष्ठित है।" वह अविमुक्त कहाँ प्रतिष्ठित है? वह वरणा और नाशी के बीच में प्रतिष्ठित है। वरणा और नाशी क्या है? सब इन्द्रियकृत दोषों को जो दूर करता है, वही वरणा है और जो सब इन्द्रियकृत पापों को नाश करता है वही नाशी कहलाता है। कहाँ वह स्थान है? दोनों भौंओं का और नासिका का जो मिलन-स्थान है; (वही वह स्थान है) वह द्युलोक और परलोक का भी मिलन-स्थान है। इस संधि-स्थान में ब्रह्मज्ञानी अपनी संध्या की उपासना करते अर्थात् वहाँ पर ध्यान करके ब्रह्म-साक्षात्कार के लिये चेष्टा करते हैं ॥२॥

भगवान् बुद्ध की ध्यानावस्थित प्रतिमाओं के दर्शन से विदित होता है कि वे आँखों को बन्द करके ध्यानाभ्यास करते थे। श्रीमद्भागवत में लिखा है कि राजा परीक्षित ने आँख बन्द किये ध्यानावस्थित शमीक मुनि के गले में मरा हुआ साँप पहनाया था (स्कन्ध १ अ० १८ श्लोक २५-३१)।

कबीर साहब, गुरु नानक साहब तथा पलटू साहब आदि संतों की वाणियों में आँखें बन्द कर ध्यान करने की विधि लिखी है।

'नयनों की करि कोठरी पुतली पलंग बिछाय।
पलकों की चिक डारिके पिय को लिया रिझाय॥"

"आँख कान मुख बन्द कराओ, अनहद झिंगा शब्द सुनाओ।
दोनों तिल एक तार मिलाओ, तब देखो गुलजारा है॥"

'गुरुदेव के भेद को जीव जानै नहीं जीव तो आपनी बुद्धि ठानै।
गुरुदेव तो जीव को काढ़ि भव सिंधु तें, फेरि लै सुख के सिंधु आनै॥
बन्द कर दृष्टि को फेरि अन्दर करै, घट का पाट गुरुदेव खोलै।
कहै कबीर तू देख संसार में, गुरुदेव समान कोइ नाहिं तोलै॥"

(कबीर साहब)

"तीनबन्द† लगाय कर, सुन अनहद टंकोर।
नानक सुन्न समाधि में, नहीं साँझ नहीं भोर॥"

(गुरु नानक)

और सूरदास जी कहते हैं—

"नैन नासिका अग्र है, तहाँ ब्रह्म को बास।
अविनाशी विनसे नहीं, हो सहज ज्योति परकास।"

(कल्याण वेदान्त अंक १९९३ वि० सं० पृ० ५८५ से उद्धृत)

†आँख, कान और मुँह बन्द = तीन बन्द। हठयोग की क्रियाओं में मूल बन्ध, उड्डियान बन्ध और जालंधर बन्ध, तीन बन्ध हैं; सो ये तीन बन्ध नहीं हैं।

"आँख मूंदि के ध्यान लावै, द्वार दसवां खोलनं ।"††
(पलटू साहब)

"दोउ मूंदि के नैन अन्दर देखा,
नहिं चाँद सुरज दिन राति है रे ॥"
(यारी साहब)

कबीर साहब ने सहज समाधि का वर्णन करते हुए एक पद्य में कहा है कि—

"आँखि न मूंदौं कान न रूधौं तनिक कष्ट नहिं धारौं ।
खुले नयन पहिचानौं हंसि हंसि, सुन्दर रूप निहारौं ॥"

यह दशा अवश्य ही सहज समाधि प्राप्त कर लेने पर होगी। परन्तु जब तक सहज समाधि नहीं हुई हैं, तब तक "आँखि न मूंदौं, कान न रूधौं" नहीं । साधनारम्भ में तो कबीर साहब के वाक्यों में जैसा वर्णन है, आँख और कान बन्द करने ही पड़ेंगे ।

साधन के अन्त में सहज समाधि प्राप्त होगी और आँख-कान बन्द करने की आवश्यकता नहीं रहेगी । परन्तु साधनारम्भ से ही आँख-कान न बन्द करना, कबीर साहब नहीं कहते हैं ।

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण की आज्ञा है—दिशाओं को नहीं देखते हुए नासिकाग्र में देखो । यहाँ विचारणीय है कि दिशाओं को नहीं देखने के लिये आँखों को बन्द करना होगा अथवा उन्हें खोल कर देखना होगा ? चारों सीधी ओर, उनके चारों कोने और ऊपर तथा नीचे—ये दश दिशायें हैं । आँखों को खोल कर देखने से कोई न कोई दिशा अवश्य देखी जायगी । परन्तु आँखों को बन्द कर और बाहर के ख्यालों को छोड़ कर देखने से दिशाओं का देखना छूटेगा ।

---

††पलटू साहब की बानी भाग १

भृकुटियों के बीच में वा नाक के निचले भाग पर देखने से आँखों में कष्ट तो होगा ही और विशेष बात यह होगी कि भृकुटियों के बीच का वा नाक के निचले नोंक-भाग का स्थान प्रत्यक्ष देखा जा सकेगा वा आंख बन्द कर केवल मानसिक दृष्टि से उन स्थानों पर देखने से उन स्थानों के मनोमय रूप देखे जायेंगे। उन स्थानों के जितने-जितने भाग देखे जायेंगे, वे कुछ न कुछ परिमाण वाले अवश्य देखे जायेंगे। और उन स्थानों पर यदि इष्टदेव की स्थूल मूर्त्ति ख्याल में बनाकर देखी जायगी, तो भी मूर्ति के विस्तार का परिमाण रहेगा। इस तरह किसी परिमाण में मन और दृष्टि को रखने से समाधि प्राप्त करने की ऊर्ध्वगति नहीं हो सकेगी। इसके लिये पूर्ण सिमटाव चाहिये। यह बिना एकबिन्दुता के नहीं हो सकेगा। बिन्दु-ध्यान, परम ध्यान है—

"तेजोबिन्दुः परं ध्यानं विश्वात्महृदि संस्थितम् ॥१॥"

(तेजोबिन्दूपनिषद्)

अर्थ—हृदयस्थित विश्वात्म तेजस्-स्वरूप विन्दु का ध्यान परम ध्यान है ॥१॥

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् का अणु से अणु रूप का निर्देश है।

"कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥"

(गीता अध्याय ८ श्लोक ९)

मनुस्मृति के अध्याय १२ श्लोक १२२ में यही अणोरणीयाम् बिन्दु है।

"प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम् ॥"

द्रष्टव्य—रेखांकित वाणी में बिन्दुध्यान के संकेत हैं।

अर्थ—जो सब का शासन करने वाला, अणु से भी अति सूक्ष्म, स्वर्ण के समान कान्तिवाला, स्वप्नावस्था के सदृश बुद्धि से जानने योग्य है, उस परम पुरुष को जानें।

परिभाषा के अनुकूल बिन्दु का मानस रूप वा कल्पित रूप नहीं बनता है। यह देखने के कौशल से प्रत्यक्ष देखा जाता है। इसी एक-बिन्दुता वा बिन्दुध्यान के लिये श्रीमद्भागवत के स्कन्ध ११ अध्याय १४ के नीचे लिखे श्लोकों में क्रम-क्रम से शून्य-ध्यान का वर्णन है।

"इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो मानसाऽऽकृष्य तन्मनः।
बुद्ध्या सारथिना धीरः प्रणयेन्मयि सर्वतः ॥ ४२ ॥
तत्सर्वव्यापकं चित्तमाकृष्यैकत्र धारयेत्।
नान्यानि चिन्तयेद् भूयः सुस्मितं भावयेन्मुखम् ॥ ४३ ॥
तत्र लब्धपदं चित्तमाकृष्यव्योम्नि धारयेत्।
तच्च त्यक्त्वा मदारोहो न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥ ४४ ॥

अर्थ—बुद्धिमान पुरुष को चाहिये कि मन के द्वारा इन्द्रियों को उनके विषयों से खींच कर, उस मन को बुद्धिरूपी सारथी की सहायता से सर्वाङ्गयुक्त मुझमें ही लगा दे ॥ ४२॥ सब ओर से फैले हुए चित्त को खींच कर एक स्थान में स्थिर करे और अन्य अंगों का चिन्तन न करता हुआ केवल मेरे मुसकानयुक्त मुख का ही ध्यान करे ॥४३॥ मुखारविन्द में चित्त के स्थिर हो जाने पर उसे वहाँ से हटाकर अकाश में स्थिर करे। तदन्तर उसको भी त्याग कर मेरे शुद्ध स्वरूप में आरूढ़ हो और कुछ भी चिन्तन न करे ॥४४॥

द्रष्टव्य—रेखांकित वाणी में बिन्दुध्यान के संकेत है।

इसी ध्यानाभ्यास के बारे में उपनिषद् एवं सन्तवाणियों के ये कतिपय पद्य हैं—

बीजाक्षरं परं बिन्दुं नादं तस्योपरि स्थितम् ।
सशब्दं चाक्षरे क्षीणे निःशब्दं परमं पदम् ।। २ ।।

अर्थ—परम बिन्दु ही बीजाक्षर है; उसके ऊपर नाद है। नाद जब अक्षर (अनाशी ब्रह्म) में लय हो जाता है, तो निःशब्द परम पद है। (ध्यानबिन्दूपनिषद् श्लोक २)

"शून्य ध्यान सब के मन माना।"

"गगन की ओट निसाना है।
दहिने सूर चन्द्रमा बायें, तिनके बीच छिपाना है।।"

"गगन मण्डल के बीच में, तहवाँ झलके नूर।।"

"जो कोई निर्गुण दर्शन पावै।
प्रथमे सुरति जमावै तिल पर, मूल मंत्र गहि लावै।।"

"मेरे नजर में मोती आया है।
है तिल के तिल के तिल भीतर, विरले साधू पाया है।।"

(कबीर साहब)

"गगनंतरि गगन गवनि करि फिरै।
जाय त्रिवेणी मजनु करै।।"

"गगनि निवासि आसणु जिसु होई।
नानक कहे उदासी सोई।।"

"भ्रम भै मोह न माया जाल।
सुन्न समाधि प्रभू किरपाल।।"

(ग्रन्थ साहब, गुरुनानक)

द्रष्टव्य—रेखांकित शब्दों में बिन्दु-ध्यान के संकेत हैं।

"चढ़े गगन अकास गरजे द्वार दशम निकासनं ।
बिन्द में तहँ नाद बोलै रैन दिवस सुहावनं ॥"
(पलटू साहब)

"स्रुति ठहरानी रहे अकासा ।
तिल खिरकी में निसदिन बासा ॥"
(तुलसी साहब)

नासाग्र और बिन्दु वा अणोरणीयाम् के विषय में उक्त बातों की जानकारी के बाद समाधि के विषय में भी जानकारी होनी चाहिये । श्रीमद्भगद्गीता के ज्ञान का सार विषय, कर्म्म-योग-द्वारा परमात्म-प्राप्ति और मोक्ष-लाभ करना है। अनेक जानकार ऐसा बतलाते हैं और भगवद्गीता का कहना है कि कर्म्म-योगी को स्थितप्रज्ञ होना चाहिये। और स्थितप्रज्ञता समाधि में प्राप्त होती है । अतएव यह अवश्य ही जानना चाहिये कि समाधि किसे कहते हैं ? योगाभ्यास* के अन्तिम अंग को 'समाधि' कहते हैं। इसमें पूर्ण सफल होने पर अभ्यासी पूर्ण योगी होता है। मुक्तिकोपनिषद् में समाधि की निम्नलिखित स्थितियाँ बतलाई गई है—

"ब्रह्माकारमनोवृत्तिप्रवाहोऽहंकृतिं विना ।
संप्रज्ञातसमाधिः स्याद्ध्यानाभ्यासप्रकर्षतः ॥५३॥
प्रशान्तवृत्तिकं चित्तं परमानन्ददायकम् ।
असंप्रज्ञातनामायं समाधिर्योगिनां प्रियः ॥५४॥

*इसके आठ अंग हैं—(१) यम (२) नियम (३)आसन(४) प्राणायाम (५) प्रत्याहार (६) धारणा (७) ध्यान और (८) समाधि ।

द्रष्टव्य—रेखांकित वाणी में विन्दु-ध्यान के संकेत हैं ।

प्रभाशून्यं मनःशून्यं बुद्धिशून्यं चिदात्मकम् ।
अतद्व्यावृत्तिरूपोऽसौ समाधिर्मुनिभावितः ॥५५॥
ऊर्ध्वंपूर्णमधःपूर्णं मध्यपूर्णं शिवात्मकम् ।
साक्षाद्विधिमुखो ह्येष समाधिः पारमार्थिकः ॥५६॥

अर्थ—जब अहंकारवृत्ति निरुद्ध होकर केवल ब्रह्माकार में चित्त की वृत्ति रहती है, तब इसको संप्रज्ञात समाधि कहते हैं। यह अतिशय ध्यानाभ्यास से होती है ॥५३॥ जब चित्त की सब वृत्तियाँ प्रशान्त हो जायेंगी, उसी अवस्था का नाम असंप्रज्ञात समाधि है। वह योगियों को प्रिय है ॥५४॥ ज्योति, मन तथा बुद्धि-रहित होकर केवल चैतन्य आत्मा ही रहे, यह अतद्व्यावृत्ति (जिसको किसी दूसरे की आवश्यकता न हो) समाधिस्थ मुनियों से अभिलषित है ॥५५। (इस समाधि में) ऊपर, नीचे और मध्य; सर्वत्र कल्याणकारी ब्रह्म की परिपूर्णता की अनुभूति होती है। विधिमुख (कथित) यह पारमार्थिक समाधि है ॥५६॥

समाधि की इन स्थितियों में बाह्य ज्ञानविहीन होकर रहना होता है। नादबिन्दूपनिषद् में भी कहा है—

"शंखदुन्दुभिनादं च न शृणोति कदाचन।
काष्ठवज्जायते देह उन्मन्यावस्थया ध्रुवम् । ५२॥
न जानाति स शीतोष्णं न दुःखं न सुखं तथा ।
न मानं नावमानं च संत्यक्त्वा तु समाधिना ॥५३॥
अवस्थात्रयमन्वेति न चित्तं योगिनः सदा ।
जाग्रन्निद्राविनिर्मुक्तः स्वरूपावस्थतामियात् ॥५४।"

अर्थ—इसके पश्चात् किसी समय भी शंख या दुन्दुभि के नाद को वह (अभ्यासी) नहीं सुनता है। निश्चय ही उन्मुनी अवस्था को पाकर उसकी देह काष्ठवत् हो जाती है ॥५२॥ ठण्ढ, गर्मी और सुख-दुःख को वह कुछ नहीं जानता है। योगी का चित्त सदा मान और अपमान को त्याग कर समाधि से तीनों

अवस्थाओं को पार करता है। जाग्रत और निद्रावस्था से छूट कर वह आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेता है ।।५३-५४।।

समाधि-साधन में जब इन दशाओं को कोई प्राप्त करेगा, तभी वह समाधि-प्राप्त महापुरुष कहलाने का अधिकारी होगा। ऐसे समाधिस्थ महापुरुष स्थितप्रज्ञ होकर पूर्ण कर्म्मयोगी होंगे, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। समाधि प्राप्त करने के लिये ध्यानयोग का और पूर्ण कर्म्मयोगी होने के लिये कर्म्मयोग का अभ्यास संग-संग आरम्भ कर, करते रहना युक्तियुक्त है। अभ्यासी ध्यानयोग में पूर्ण होकर कर्म्मयोग में भी पूर्ण हो जायगा। समाधि-रहित को स्थितप्रज्ञता कदापि प्राप्त नहीं होगी और इसके बिना कर्म्मयोगी कच्चा और अपूर्ण रहेगा।

कोई-कोई कर्म्म-समाधि मानते हैं। उनका कहना है कि "बाह्य कर्त्तव्यों को पूर्णरूपेण मन लगा-लगा कर करते रहो, इसमें ऐसी तन्मयता आवे कि कर्त्तव्य कर्म करते समय मन दूसरी ओर तनिक न जाय।" ऐसी कर्म्म-समाधि में जाग्रतावस्था नहीं छूटेगी। ऊपर लिखित समाधियों में तुरीय और तुरीयातीतावस्था में रह कर अभ्यासी बाह्य ज्ञान से शून्य होगा। और नाना प्रकार के कर्त्तव्य-कर्म्मों को करते हुए मन और बुद्धि एक ही एक पर अधिक विलम्ब-पर्यन्त नहीं ठहराई जा सकेगी। इस भाँति एक तत्त्व का दृढ़ाभ्यास नहीं होगा और एक तत्त्व के दृढ़ाभ्यास के बिना भोग वासना का क्षय नहीं होगा। भोग वासना के क्षय नहीं होने से समाधि की प्राप्ति कदापि नहीं होगी।

"एकतत्त्वदृढ़ाभ्यासाद्यावन्न विजितं मनः ।।४०।।
प्रक्षीणचित्तदर्पस्य निगृहीतेन्द्रियद्विषः ।
पद्मिन्य इव हेमन्ते क्षीयन्ते भोगवासनाः ।।४१।।"

(मुक्तिकोपनिषद्)

अर्थ—जब तक मन नहीं जीता गया हो, एक तत्त्व के दृढ़ अभ्यास से चित्त-अहंकार को पूर्ण रूप से नष्ट करके इन्द्रिय-शत्रु को निग्रह करना। ऐसा होने से ही हेमन्त काल के कमल-सदृश भोग वासना का नाश हो जायगा।

अतएव कर्म्म-समाधि को असली समाधि नहीं मान सकते, जिसमें गीता की स्थितप्रज्ञता प्राप्त हो। वर्णित कर्म्म-समाधि के मानने वाले, अपने कर्म्म-समाधि के साधन को 'विकर्म्म' (विशेष कर्म्म) भी कहते हैं। परन्तु उनके केवल इस विकर्म्म-साधन से ही असली समाधि की प्राप्ति नहीं हो सकती है; और न कर्म्म-बन्धन से ही छूटा जा सकता है। कर्म्म-बन्धन तो असली समाधि में ही नष्ट हो सकता है। इसलिये उनके इस विकर्म्म-साधन से 'अकर्म्म' होना, मानने योग्य नहीं है। (अध्याय ४ में विकर्म्म के विषय में लिखा जा चुका है, अतएव उस विषय में यहाँ और लिखने की आवश्यकता नहीं है।) कच्चे कर्म्मयोगी को परमात्म-दर्शन और मोक्ष-लाभ नहीं होंगे। जब ये नहीं मिले तो ऐसे कर्म्मयोग के लिये यह कह देना अनुचित नहीं होगा कि—

"जोग कुजोग ज्ञान अज्ञानू। जहँ नहिं राम प्रेम परधानू॥"

(गो० तुलसीदासजी)

जिसको परमात्म-स्वरूप के प्रत्यक्ष दर्शन‡, समाधि में प्राप्त करने का प्रेम नहीं है, उसको राम† (परमात्मा) में प्रेम है, यह

---

‡यह दर्शन मन-बुद्धि आदि इन्द्रियों को नहीं, केवल चेतन आत्मा को ही हो सकता है।

†राम ब्रह्म परमारथ रूपा।
अविगत अलख अनादि अनूपा।
सकल विकार रहित गत भेदा।
कहि नित नेति निरूपहिं वेदा॥
(गोस्वामी तुलसीदास)

कैसे कहा जायगा ? केवल 'मनोमय कुछ' को परमात्मदर्शन जानना भूल है। यहाँ पाठकों को पुनः स्मरण करा देता हूँ कि स्थितप्रज्ञता में समत्वबुद्धि होती है और इसके लिये लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक जी ने ध्यान और उपासना को अत्यन्त आवश्यक बतलाया है। (गीता-रहस्य, पृष्ठ २४७)

ध्यान का तात्पर्य यदि केवल मूर्त्त मानसरूप में मन को लगाना है, तो ऐसी जानकारी अपूर्ण है। पहले शून्यध्यान और बिन्दुध्यान के विषय में लिखा जा चुका है। इसके विशेष बोध के लिये कुछ और लिखा जाता है।

"न ध्यानं ध्यानमित्याहुर्ध्यानं शून्यगतं मनः।
तस्य ध्यानं प्रसादेन सौख्यं मोक्षं न संशयः ॥"

(ज्ञान सं० तंत्र)

अर्थ—ध्यान को ध्यान नहीं कहते हैं, शून्यगत मन को ही ध्यान कहते हैं। उसी ध्यान की प्रीति के द्वारा ही सुख और मोक्ष लाभ होते हैं, इसमें सन्देह नहीं।

तुलसीकृत रामायण उत्तरकाण्ड में कागभुशुण्डि के भजन-अभ्यास के विषय में लिखा है कि—

"पीपर तरु तर ध्यान सो धरई।
जाप यज्ञ पाकरि तर करई॥
आम छाँह कर मानस पूजा।
तजि हरि भजन काज नहिं दूजा॥"

मानस-पूजा और ध्यान को अलग-अलग कहा गया है। मूर्त्त मानस-रूप में मन लगाना मानस-पूजा है, इसमें किसी को भी सन्देह नहीं है। यह भी एक प्रकार का ध्यान ही है; परन्तु जब कागभुशुण्डि का ध्यान करना इससे पृथक् कहा गया है, तब इसके अतिरिक्त कोई और प्रकार का ध्यानाभ्यास अवश्य

होना चाहिये । श्रीमद्भागवत का शून्य में ध्यान करना अवश्य ही इस मानस-पूजा-ध्यान से पृथक् है। इसी में मन शून्यगत होता है और यह बिन्दु-ध्यान भी कहलाता है। इसके विषय में प्रथम लिखा जा चुका है। परिमाणशून्य और नहीं विभाजित होनेवाले चिह्न को बिन्दु कहते हैं। इसीलिये शून्य-ध्यान और बिन्दु-ध्यान एक ही बात है।

आत्मज्ञान, परमात्म-भक्ति, स्थितप्रज्ञता, समाधि, समत्व-योग, कर्म्मयोग और ध्यानयोग श्रीमद्भगवद्गीता-ज्ञान के सार हैं। इसीलिये इन विषयों को समझाने के निमित्त, इस पुस्तक में इनका कुछ विशेष शब्दों में स्थान-स्थान पर वर्णन किया गया है तथा उचित स्थानों पर यथोचित वर्णन किया जायगा। भगवान् श्रीकृष्ण ने पाण्डव अर्जुन को ध्यानयोग की विधि कर बतला लिखित बातें और कहीं।

ध्यानाभ्यास करके जो अपने को नियम में कर लेगा, वह अपने को परमात्मा में जोड़ कर उनमें विराजने वाली शान्ति प्राप्त करेगा। जो बहुत खाता है अथवा उपवासी रहता है; बहुत सोता है या अति अल्प सोता है, उसको योग की सिद्धि नहीं होती है। बल्कि जिसका भोजन, शयन और जागरण तथा अन्यान्य कर्म्म; सब उचित परिमाण में नपे-तुले होते हैं, यह योग उसका दुःखभंजन होता है। कामनाओं में सदा निस्पृह रहता हुआ ध्यानयोगी का मन, निवात-स्थान में दीप-शिखा-सदृश स्थिर होता हुआ आत्मा में लगा रहता है। यह योग बिना उकताये हुए साधने-योग्य है।

चंचल मन साधन छोड़ कर जिधर-जिधर भागे, उधर-उधर से उसको लौटा-लौटा कर साधना में अनवरत रूप से लगाने का प्रत्याहार करना चाहिये। इस भाँति मन शान्त और वश में होगा। अभ्यासी को अनन्त ब्रह्म-सुख तथा समत्व की प्राप्ति

होगी। वह अपने में सबको, सबमें अपने को, ईश्वर को सबमें* और ईश्वर में सब को आत्मदृष्टि‡ से प्रत्यक्ष (न कि केवल बौद्धिक रूप में) देखेगा। परमात्मा के दर्शन उसको सदा मिलते रहेंगे और परमात्मा को तो कभी कुछ भी अदृश्य नहीं रहता है, वह कभी भी कैसे उसको अदृश्य रहेगा? वह समत्व-प्राप्त भक्त-योगी अपने-जैसा सब को देखता हुआ, कर्त्तव्य-कर्म्मों में बरतता हुआ, परमात्मा की प्रत्यक्षता में ही रहा करता है।

यद्यपि मन की अत्यन्त चंचलता और इसके दुःसाध्य होने के कारण इसको वश में करना बड़ा कठिन है; तथापि अभ्यास (ध्यान) और वैराग्य से इसको वश में किया जाता है। यदि ध्यान-योग में श्रद्धा रखे; परन्तु साधन में ढीला रहे, तो यह योग-भ्रष्ट पुरुष अपने स्वल्पातिस्वल्प ध्यान-योगाभ्यास के फल से दुर्गति को प्राप्त न होकर प्रथम स्वर्गसुख भोगेगा; पुनः इस पृथ्वी पर किसी पवित्र श्रीमान् के घर में अथवा किसी ज्ञानवान् योगी के घर में जन्म लेगा और पूर्व के अभ्यास-संस्कार से प्रेरित होकर, ध्यान-योगाभ्यास में लग जायगा। वह मोक्ष की ओर आगे बढ़ेगा और इस प्रकार अनेको† जन्मों की कमाई के द्वारा पापों से छूट कर पवित्र होता हुआ परम गति (मोक्ष) को प्राप्त करेगा।

---

*ध्यानयोग में पारंगत से ही ऐसा होगा, केवल किसी के कहने पर कि "सब में ईश्वर को देखो", कोई सब में ईश्वर का दर्शन नहीं पा सकता है।

‡कैवल्य दशा की आत्मदृष्टि।

†श्रीमद्भगवद्गीता के कथनानुसार तो अनेक जन्मों तक ध्यानयोग करके सिद्धि मिलेगी, परन्तु जो अपने को गीता का विशेष जानकार और उसके द्वारा पुष्ट हुआ मानें, वह यदि केवल कुछ वर्षों तक ध्यान करके यह सिद्धान्त अपनी ओर से कह दें कि अब ध्यान-योग करने का समय

ज्ञानवान योगी के कुल में जन्म पाने को दुर्लभ कहा गया है। इसका हेतु ज्ञात होता है कि पवित्र श्रीमान् के कुल में बारम्बार जन्म पाकर पूर्व संस्कार-द्वारा ध्यान-योगाभ्यास में जब वह अभ्यासी अधिकाधिक संलग्न होगा और विशेष अभ्यास से उसे सिद्धि मिलेगी, तब वह ज्ञानवान योगी-कुल में जन्म लेने का पात्र होगा। और उसमें जन्म लेकर ध्यान-योगाभ्यास में पारंगत हो; परम मोक्ष को प्राप्त करेगा। इस योगाभ्यास का स्वल्प-अभ्यास भी जीव को भव के महाभय से बचाता है और इसकी ऐसी महिमा है कि इसका जिज्ञासु‡ भी शब्द ब्रह्म† अर्थात् नाद-ब्रह्म को पार कर जाता है। यह नाद-ब्रह्म सृष्टि का बीज है। सृष्टि के आदि में परमात्मा से सर्वप्रथम इसी का आविर्भाव होता है। इसलिये इसको आदि नाद, आदि नाम और आदि शब्द कहा जाता है। इसको पार कर जाने से ही भवसागर से मुक्ति होती है।

नहीं है, तो उनकी यह बात विश्वास करने-योग्य नहीं है। अनेक जन्मों के अभ्यास के समक्ष केवल कुछ वर्षों का ही अभ्यास, तो अत्यन्त स्वल्पाभ्यास है। इतने ही में अपने उक्त सिद्धान्त का प्रसार करना, बड़ा ही अयोग्य है। अनेक जन्म ध्यानाभ्यास करके सिद्धि पाकर, वह यह नहीं कहेंगे कि अब ध्यानाभ्यास का समय नहीं है; क्योंकि गीता यह नहीं बताती है कि ध्यानाभ्यास करने का समय कभी नहीं रहेगा।

‡जब तक योगाभ्यास में कोई पूर्ण नहीं होता है, तब तक वह योग का जिज्ञासु ही है।

†"अक्षरं परमोनादः शब्दब्रह्मेति कथ्यते........॥२॥"

(योगशिखोपनिषद् अ० ३)

अर्थ—अक्षर (अनाशी) परम नाद को शब्दब्रह्म कहते हैं ॥२॥ ध्यानयोग में नादानुसंधान परम और अन्त का साधन है। इसके समाप्त

इसका विशेष विवरण 'सत्संगयोग'‡ के चारो भागों में लिखा गया है। यहाँ नमूने के लिये 'वराहोपनिषद्', अध्याय २ का एक मन्त्र दिया जाता है।

"सर्वचिन्तां परित्यज्य सावधानेन चेतसा।
नाद एवानुसन्धेयो योगसाम्राज्यमिच्छता ॥८३॥"

हुए बिना योग समाप्त ही नहीं होगा। शून्यध्यान वा बिन्दुध्यान-द्वारा नादानुसन्धान (सुरत-शब्दयोग) का अभ्यास ग्रहण होगा।

बिन्दुपीठं विनिर्भिद्य नादलिंगमुपस्थितम्.......।१३॥
(योगशिखोपनिषद्, अ० २)

अर्थ—बिन्दुपीठ का भेदन करके नादलिंग उपस्थित होता है।

बीजाक्षरं परं बिन्दुं नादं तस्योपरिस्थितम्।
सशब्दं चाक्षरे क्षीणे निःशब्दं परमं पदम् ॥२॥
(ध्यानबिन्दूपनिषद्)

अर्थ—परम बिन्दु ही बीजाक्षर है। उसके ऊपर नाद है। नाद जब अक्षर (अनाशी) ब्रह्म में लय हो जाता है, तो निःशब्द परम पद है।

लोगों ने 'शब्द-ब्रह्म' का अर्थ वेद बतला करके, "जिज्ञासुरपि योगस्य शब्द-ब्रह्मातिवर्तते" का अर्थ "योग का जिज्ञासु भी सकाम वैदिक-कर्म्म करने वाले की स्थिति पार कर जाता है।"—भी किया है। मैंने 'शब्द-ब्रह्म' को जैसा समझा है, उस अर्थ में वैदिक कर्म्मकाण्डात्मक स्थिति को अवश्य ही अभ्यासी वा जिज्ञासु पार कर जायगा।

‡वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल तक के कतिपय सन्तों के शब्द इस पुस्तक में संग्रहीत हैं और चौथे भाग में यह बताया गया है कि इन वाणियों के अनुसार सन्तमत क्या है?

अर्थ—योग-साम्राज्य की इच्छा करने वाले मनुष्यों को सब चिन्ता त्याग कर सावधान होकर नाद की ही खोज करनी चाहिये।

ध्यानयोग का सार साधन नादानुसन्धान है, जो साधन के अन्त तक पहुँचाता है।

तपस्वी से, ज्ञानी (वाचस ज्ञानी वा ध्यानयोग-अभ्यास में पूर्णताविहीन ज्ञानी) से और कर्मकाण्डी से योगी अधिक है। योगियों में भी परमात्म-भक्त योगी श्रेष्ठ है। इसलिये हे लोगो ! भक्तयोगी बनो।

॥ षष्ठ अध्याय समाप्त ॥

अध्याय—७

अथ ज्ञान-विज्ञानयोग

-इस अध्याय का विषय ज्ञान-विज्ञानयोग है।

इसमें भगवान् परमात्मा के नित्य, अविनाशी और मायातीत स्वरूप का वर्णन है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन-बुद्धि और अहंकार; ये आठ उनकी अपरा (निम्नकोटि की) प्रकृति‡ है। इससे ऊँची, जगत को धारण करनेवाली उनकी परा प्रकृति‡ है, जो जीव-रूप है अर्थात् चेतन है। परमात्मा भगवान् की इन्हीं दोनों प्रकृतियों में सब प्राणी उत्पन्न होते हैं। सब सृष्टि की उत्पत्ति और लय के कारण परमात्मा हैं और सारी रचना उनमें गुँथी हुई हैं। जल में रस, सूर्य्य, चन्द्र और अग्नि में तेज, वेदों में ॐकार, आकाश में शब्द, पुरुषों में पराक्रम, पृथ्वी में गन्ध, प्राणी-मात्र का जीवन, तपस्वी का तप, बुद्धिमान् की बुद्धि, तेजस्वी का तेज, बलवान का काम-रागरहित बल और प्राणियों में धर्म का अविरोधी काम परमात्मा हैं। सात्विक, राजसी और तामसी; जो सब भाव

---

‡ये दोनों प्रकृतियाँ परमात्मा के स्वभाव या गुण नहीं हैं, परमात्मा के अधीन में हैं। जैसे किसी के अधीनस्थ चीज उसकी है, परन्तु वह उसका स्वभाव नहीं है। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक जी को भी यह मान्य है कि प्रकृति स्वतन्त्र नहीं है, परमात्मा के अधीनस्थ है। यथा—"श्रीभगवद्गीता में भी भगवान् ने पहले यह वर्णन करके कि प्रकृति स्वतन्त्र नहीं है—मेरी ही माया है।" (गीता अध्याय ७ श्लोक १४) फिर आगे कहा है—"प्रकृति अर्थात् माया और पुरुष, दोनों अनादि हैं।" (१३:१९)

(गीता-रहस्य, पृष्ठ२६३)

हैं, सब परमात्मा से उपजे हुए हैं। परमात्मा में वे सब हैं, परन्तु परमात्मा उनमें नहीं हैं। इसका तात्पर्य यह है कि परमात्मा उन भावों के अवलम्ब से नहीं रहते हैं। उन भावों से वे निर्लिप्त रहते हैं, परन्तु वे भाव उनके आधार पर रहते हैं। सांसारिक लोग त्रिगुणी भावों से मोहित रहते हैं। इसलिये वे मोहित हुए लोग त्रैगुणी से उच्च और अविनाशी परमात्मा को नहीं पहचानते हैं। परमात्मा की सत, रज और तम वाली त्रैगुणी माया को तरना कठिन है। परन्तु जो परमात्मा की शरण लेते हैं, वह इसको तर जाते हैं। जो परमात्मा की शरण नहीं लेते हैं, वे आसुरी भाव वाले मूढ़, अधम और दुराचारी हैं। माया उनके ज्ञान को हर लेती है।

भक्त चार प्रकार के होते हैं—ज्ञानी, जिज्ञासु, आर्त्त और अर्थार्थी। ये सदाचारी होते हैं। इनमें ज्ञानी-भक्त श्रेष्ठ हैं, जो परमात्मा को प्रिय हैं। ये सब भक्त अच्छे हैं, परन्तु ज्ञानी तो परमात्मा की आत्मा ही है। क्योंकि वह योगी-ज्ञानी-भक्त जानता है कि परमात्म-प्राप्ति से ऊँची गति दूसरी नहीं है। बहुत जन्मों के अन्त में वह ज्ञानी-भक्त परमात्मा को पाता है। सब वासुदेव† मय है—ऐसा ज्ञानी महात्मा बड़ा दुर्लभ है। अनेक कामनाओं से हरी गई बुद्धिवाले, परमात्मा से भिन्न अनेक देवों की शरण जाते हैं। उन स्वल्प बुद्धिवालों को नाशवान फल मिलता है। देव और भूत आदि, जिनको जो भजते है, वे उनके पास जाते हैं और परमात्मा के भजने वाले परमात्मा को ही पाकर अनाशी शान्तिमय सुखफल को सदा के लिये प्राप्त करते हैं। परमात्मदेव का परम स्वरूप इन्द्रियों से नहीं जानने योग्य, अनुपम अविनाशी है। बुद्धिहीन

† महाभारत, उद्योगपर्व, अ० ७०, श्लोक ३ का अर्थ—बसें सब भूत-प्राणी जिममें, उसे वासु कहते व वासु हो जो देव, उनको वासुदेव कहते हैं। व व्यापक होने से विष्णु नाम कहाया।

लोग उनको इन्द्रियगम्य मानते हैं। अपनी योगमाया से ढंके हुए परमात्मदेव सबके लिये प्रगट नहीं हैं। मूढ़ सांसारिक लोग उन अजन्मा (जिनका जन्म न हो)और अविनाशी को भली भाँति नहीं पहचानते। इस ज्ञान-विज्ञान अध्याय के अन्त में यह लिख देना उचित जंचता है कि सबमें परमात्मा हैं, यह ज्ञान है और सब परमात्ममय है, (जैसे जेवर धातुमय है) यह विज्ञान है।

'मयि', 'मत्तः', 'अहम्अस्मि', 'माम्', और 'मम' (मुझमें, मुझसे, मैं हूँ, मुझे और मेरा) आदि शब्दों से श्रीभगवान् ने अपने को ज्ञात कराया है और उन्होंने अपने को अज, अविनाशी और इन्द्रियातीत बतलाया है। श्रीमद्भागवत स्कन्ध १० अध्याय २ में ये श्लोक हैं—

"भगवानपि विश्वात्मा भक्तानामभयंकरः।
अविवेशांशभागेन मन आनकदुन्दुभेः ॥१६॥
स बिभ्रत पौरुषं धाम भ्राजमानो यथा रविः।
दुरासदोऽतिदुर्धर्षो भूतानां सम्बभूव ह ॥१७।
ततो जगन्मंगलमच्युतांशं समाहितं शूरसुतेन देवी।
दधार सर्वात्मकमात्मभूतं काष्ठा यथाऽऽनन्दकरं मनस्तः ॥१८॥
सा देवकी सर्वजगन्निवासनिवासभूता नितरां न रेजे।
भोजेन्द्रगेहेऽग्निशिखेव रुद्धा सरस्वती ज्ञानखले यथा सती ॥१९॥"

और—

"निशीथे तमउद्भूते जायमाने जनार्दने।
देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्व गुहाशयः। ८॥"

(श्रीमद्भागवत स्क० १० अ० ३)

अर्थ—भगवान् भक्तों को अभय करने वाले हैं। वे सर्वत्र सब रूप में हैं, उन्हें आना-जाना नहीं है। इसलिये वे वसुदेव जी के मन में अपनी समस्त कलाओं के साथ प्रकट हो गये ॥१६॥

उसमें विद्यमान रहने पर भी अपने को अव्यक्त से व्यक्त कर दिया। भगवान् की ज्योति को धारण करने के कारण वसुदेव जी सूर्य के समान तेजस्वी हो गये, उन्हें देखकर लोगों की आँखें चौंधिया जाती हैं। कोई भी अपने बल, वाणी या प्रभाव से उन्हें दबा नहीं सकता था ॥१७॥ भगवान् के उस ज्योतिर्मय अंश को, जो जगत् का परम मंगल करने वाला है, वसुदेव जी के द्वारा आधान किये जाने पर देवी देवकी ने ग्रहण किया। जैसे पूर्व दिशा चन्द्रदेव को धारण करती है, वैसे ही शुद्ध सत्व से सम्पन्न देवी देवकी ने विशुद्ध मन से सर्वात्मा एवं आत्मस्वरूप भगवान् को धारण किया ॥१८॥ भगवान् सारे जगत् के निवासस्थान हैं। देवकी उनका भी निवासस्थान बन गई। परन्तु घड़े आदि के भीतर बन्द किये हुए दीपक का और अपनी विद्या दूसरे को न देने वाले ज्ञानखल की श्रेष्ठ विद्या का प्रकाश जैसे चारों ओर नहीं फैलता, वैसे ही कंस के कारागार में बन्द देवकी की भी उतनी शोभा नहीं हुई ॥१९॥

जनार्दन के अवतार का समय निशीथ था। चारों ओर अन्धकार का साम्राज्य था। उसी समय भगवान् विष्णु देव-रूपिणी देवकी के गर्भ से प्रकट हुए ॥८॥

इन श्लोकों से भगवान् का जन्म लेना पूर्ण रूप से विदित होता है।

यथाहरद् भुवो भारं तां तनुं विजहावजः।
कण्टकं कण्टकेनेव द्वयं चापीशितुः समम् ॥३४॥
यथा मत्स्यादि रूपाणि धत्ते जह्याद् यथा नटः।
भूभारः क्षपितो येन जहौ तच्च कलेवरम् ॥३५॥

(श्रीमद्भागवत स्क० १ अ० १५)

अर्थ—भगवान् कृष्ण ने लोकदृष्टि में जिस यादव-शरीर से पृथ्वी का भार उतारा था, उसका वैसे ही परित्याग कर दिया,

जैसे कोई काँटा से काँटा निकाल कर फिर दोनों को फेंक दे। भगवान् की दृष्टि में दोनों ही समान हैं ॥३४॥

जैसे वे नट के समान मत्स्यादिरूप धारण करते हैं और उनका त्याग कर देते हैं, वैसे ही उन्होंने जिस यादव-शरीर से पृथ्वी का भार दूर किया था, उसका भी त्याग कर दिया ॥३५॥

महाभारत मूसलपर्व के निम्नलिखित श्लोकों से भी भगवान् श्रीकृष्ण का शरीर त्यागना और उसका जलाया जाना विदित है। जैसे—

"ततः शरीरे रामस्य वासुदेवस्य चोभयोः।
अन्विष्य दाहयामास पुरुषैराप्तकारिभिः॥"

(अध्याय ७ श्लोक ३१)

अर्थ—अर्जुन ने वासुदेव और बलदेव जी के शरीरों को खोज कर सत्य और ठीक कर्म करने वाले आप्त पुरुषों के द्वारा उनका दाह कराया ॥३१॥

"यः स मेघवपुः श्रीमान्बृहत्पंकजलोचनः।
स कृष्णः सह रामेण त्यक्त्वा देहं दिवं गतः॥"

(अध्याय ८ श्लोक ८)

अर्थ—अर्जुन बोले कि जिसकी देह श्री बादल-सदृश और दोनों नेत्र विशाल कमलदल के तुल्य थे, उस श्रीमान् कृष्ण ने राम के सहित शरीर छोड़ कर सुरलोक गमन किया है ॥८॥

श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ११, अध्याय ३१, श्लोक ६ में—
यथा—

"लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमंगलम्।
योगधारणयाऽऽग्नेय्यादग्ध्वा धामाविशत्स्वकम्॥"

अर्थ—भगवान् का श्रीविग्रह उपासकों के ध्यान और धारणा का मंगलमय आधार है और समस्त लोकों के लिये परम रमणीय

आश्रय है; इसलिये उन्होंने अग्नि देवता सम्बन्धी योग-धारणा के द्वारा उसको जलाया नहीं, सशरीर अपने धाम चले गये ॥६॥

इससे विदित होता है कि भगवान् श्रीकृष्ण ने सशरीर निज धाम गमन किया था।

जब कि श्रीमद्भागवत में ही श्रीकृष्ण का शरीर छोड़ना भी लिखा है और इसका मेल महाभारत से भी है, तब मैं उनके शरीर-त्याग और अर्जुन-द्वारा उसके जलाये जाने में ही विश्वास करता हूँ। और तब उनका शरीर इन्द्रियातीत भी कैसे माना जा सकता है, जबकि उनके समय के लोगों ने उनका और उनके परिणामों को भली-भाँति दर्श-स्पर्शादि किया था ? अतएव उनके शरीर को अज, अव्यय और इन्द्रियातीत मानना बुद्धि-विपरीत और अन्धी श्रद्धा-मात्र है। हाँ, उस शरीर में व्यापक परमात्मा को कथित विशेषणों से युक्त जानना पूर्णरूपेण यथार्थ है। इसी कारण से मैंने भगवान् के अज, अव्यक्त और इन्द्रियातीत आत्म-स्वरूप को परमात्मा कह कर यत्र-तत्र प्रसंगानुसार विदित किया है।

गीता-प्रेस, गोरखपुर से प्रकाशित श्रीमद्भागवत के दशम् स्कन्ध के अध्याय १०७, श्लोक ३१ की पादटिप्पणी में भगवान् श्रीकृष्ण की बाल-लीला की व्याख्या करते हुए टीकाकार ने भ्रम पैदा किया है।

टीकाकार ने लिखा है—"भगवान् की लीला पर विचार करते समय यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि भगवान् का लीलाधाम, भगवान् के लीलापात्र, भगवान् का लीला-शरीर और उनकी लीला प्राकृत नहीं होती। भगवान् में देह-देही का भेद नहीं है। महाभारत में आया है—

न भूतसंघसंस्थानो देवस्य परमात्मनः।
यो वेत्ति भौतिकं देहं कृष्णस्य परमात्मनः॥

स सर्वस्माद् बहिष्कार्यः श्रौतस्मार्तविधानतः ।
मुखं तस्यावलोक्यापि सचैलः स्नानमाचरेत् ।।

"परमात्मा का शरीर भूत-समुदाय से बना हुआ नहीं होता । जो मनुष्य श्रीकृष्ण परमात्मा के शरीर को भौतिक जानता-मानता है, उनका समस्त श्रौत-स्मार्त कर्मों से वहिष्कार कर देना चाहिये अर्थात् उसका किसी भी शास्त्रीय कर्म में अधिकार नहीं है । यहाँ तक कि उसका मुँह देखने पर भी सचैल (वस्त्र-सहित) स्नान करना चाहिये ।"

एकमात्र मूर्तिपूजा को ही मोक्ष का उपाय बताने वाले यही भूल करते हैं । भगवान् श्रीकृष्ण ने जन्म ग्रहण किया, गोकुल में बाललीला (मटकी फोड़ना, मक्खन चुराना, वस्त्र छिपाना आदि) की और बालरूप में की । यह लीला प्राकृत थी । अप्राकृत होती, तो सबों के लिये गोचर नहीं होती । क्योंकि अप्राकृत पदार्थ का इन्द्रिय-गोचर होना असम्भव है । देह-देही का भेद तो स्वयं भगवान् ने बताया है—देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत—दूसरा अ० श्लोक ३० तथा गीता के १३ वें अध्याय में शरीर और शरीरी का भेद बताते हुए शरीर को क्षेत्र और उसमें स्थित अपने को क्षेत्रज्ञ बताया है ।

टीकाकार ने किसी मान्य धर्मग्रन्थ से स्पष्ट रूप में उद्धरण देकर नहीं बताया है कि भगवान् की लीला प्राकृत नहीं तथा उनमें देह-देही का भेद नहीं । महाभारत से जो उन्होंने उद्धरण दिया है, वह उनके तर्क के लिये भी सटीक नहीं बैठता । उन्होंने यह भी नहीं बताने का कष्ट किया है कि महाभारत के किस स्थल पर और किस प्रसंग में यह बात आयी है । भगवान् श्री कृष्ण को उनके काल में लोगों ने देखा; स्पर्श किया; तो क्या वे ऐसे लोग थे, जिन्हें देखकर दूसरे सचैल (वस्त्र-सहित) स्नान कर लेते थे ?

श्रीमद्भागवत स्कन्ध १ अ० १५ श्लोक ३४-३५ से विदित होता है कि भगवान् श्रीकृष्ण के समय के पहले ही से पृथ्वी पर पापाचारी लोग बहुत हो गये थे और वे पृथ्वी के भार-रूप थे। वे उस समय के शिष्टों को दुःख देने वाले कंटक (काँटा) रूप थे। इस भार-रूप काँटे को निकाल कर दूर करना बहुत ही आवश्यक था। भगवान् विष्णु ने यदुवंश में इसी कारण अवतार लिया था कि उस काँटे को निकाल कर दूर किया जाय। अतएव उनका इस वंशवाला शरीर—यादव-शरीर था। यह शरीर भी एक ऐसा काँटा था, जिसके द्वारा उन्होंने भू-भार रूप काँठे को निकाल कर दूर कर दिया और अपने से ग्रहण किया हुआ उस यादव-शरीर रूप काँटे को भी उन्होंने परित्याग कर दिया। भगवान् की दृष्टि में दोनों काँटे अर्थात् भू-भार रूप काँटा और अपना यादव-शरीर रूप काँटा, जिससे भू-भार रूप काँटा को निकाला, दोनों समान थे। जैसे नट मत्स्यादि रूप धारण करते हैं और उन्हें त्यागते हैं, वैसे ही उन्होंने यादव-शरीर धारण किया और उसे त्याग दिया था। भगवान का वह यादव-शरीर इन्द्रिय-गोचर था। श्रीमद्भागवत स्कन्ध १० अध्याय २ श्लोक १६ से १९ तक और इसी स्कन्ध के अ० ३ श्लोक ८ से विदित होता है कि (यादव-श्रेष्ठ) वसुदेव (भगवान् कृष्ण के पिता) के द्वारा आधान किये जाने पर देवी देवकी (भगवान् कृष्ण की माता) ने उन्हें धारण किया। और भगवान् माता देवकी के गर्भ से प्रकट हुए अर्थात् जन्म लिये। इसमें भगवान् के जन्म में कोई अप्राकृतिक कार्य विदित नहीं होता अर्थात् उनका जन्म प्राकृतिक रूप से ही हुआ। गर्भाधान का होना, कुछ काल गर्भ में रहना, फिर गर्भ से प्रकट होना या जन्म लेना प्राकृतिक बात ही है। अप्राकृतिक बात का इसमें लेश भी नहीं है।

महाभारत के मूसल पर्व, अ० ७ श्लोक ३१ तथा अ० ८ श्लोक ८ में यह व्यक्त किया गया है कि भगवान् कृष्ण ने शरीर छोड़ा और अर्जुन ने आप्त पुरुषों के द्वारा उसका दाह-कर्म कराया। ये बातें अप्राकृतिक शरीर के लिये कहा जाय—मानने योग्य नहीं है। अप्राकृतिक वस्तु को इन्द्रियगोचर मानना बुद्धि-विपरीत है। महाभारत और श्रीमद्भागवत दोनों के रचयिता व्यासदेव माने जाते हैं। इनके द्वारा भगवान् के शरीर को काँटा बताया जाना और जलाया जाना, क्या अप्राकृतिक शरीर के लिये कहा गया है? ऐसा कदापि नहीं हो सकता। भगवान् के यादव-शरीर को प्राकृतिक शरीर कहने वाले का दर्शन करके सचैल स्नान प्रायश्चित रूप में करना चाहिये, तो व्यासदेव के लिये उस हेतु अनादर का भाव रखना आवश्यक हो जाता है, जिसके पात्र व्यासदेव कदापि नहीं। श्रीमद्भागवत में और महाभारत में जो वर्णन भगवान् कृष्ण के इन्द्रियगोचर शरीर के लिये अप्राकृतिक कहा गया है, सो वचन व्यासदेवजी के नहीं हैं, टीकाकार के हैं। श्रीमद्भगवद्गीता (जो महाभारत का ही एक छोटा अंश है,) के सातवें अध्याय में भगवान् कहते हैं—

"अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामऽबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥२४॥

अर्थात् "मेरे परम अविनाशी और अनुपम स्वरूप को न जानने वाले बुद्धिहीन लोग इन्द्रियों से अतीत मुझको इन्द्रियगम्य मानते हैं।" इससे विदित होता है कि भगवान् का अव्यक्त (इन्द्रियों को अगोचर) रूप ही उनका परम भाव रूप है। उनको केवल व्यक्त भाव में ही जानना अज्ञानियों का काम है। व्यक्त रूप प्राकृतिक के अतिरिक्त अप्राकृतिक मानने योग्य नहीं है। श्रीमद्भगवद्गीता में यह बात कहीं भी नहीं है कि भगवान्

के क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ में अभेद है। ऐसा अभेद-ज्ञान बुद्धि-विपरीत भी है। श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय ६ श्लोक २ में है—

"क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥"

अर्थात् "हे भारत! समस्त क्षेत्रों—शरीरों में रहने वाला मुझको क्षेत्रज्ञ जान। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद का ज्ञान ही ज्ञान है, ऐसा मेरा मत है" (महात्मा गांधी)। परन्तु इसके साथ भगवान् ने यह व्यक्त नहीं किया है कि मेरे क्षेत्र और सब क्षेत्रों में रहने वाला मुझको, एक ही जानो। फिर भी कुछ लोग इस अभेदता को ही लोगों में विश्वास कराना चाहते हैं, जो अयोग्य है।

॥ सप्तम अध्याय समाप्त ॥

अध्याय—८

अथ अक्षरब्रह्मयोग

इस अध्याय में परमाक्षर* (सर्वव्यापी ब्रह्म परमात्मा) का वर्णन है ।

शरीरोपाधि-सहित अनाशी आत्मतत्त्व से जो उच्च है, अर्थात् जो शरीरोपाधि से रहित है, उस परमाक्षर (श्रेष्ठतम अविनाशी) को ब्रह्म कहते हैं । शरीरोपाधि-सहित शरीर-निवासी आत्मा को अध्यात्म कहते हैं । प्राणियों को उत्पन्न करने के व्यापार को कर्म्म कहते हैं । नाशवान् रूपों को अधिभूत कहते हैं । नाशवानों में रहने वाला चेतनात्मक पुरुष अधिदैव है और सब यज्ञों के अधिपति सर्वव्यापी परमात्मा ही हैं । जो परमात्मा का स्मरण करता हुआ शरीर-त्याग करता है, वह उनमें जा मिलता है । जीवनकाल में सदा जो जिस ख्याल में लगा रहता है, मृत्युकाल में भी उसी ख्याल में लगा हुआ, वह उसी का स्मरण करता हुआ, शरीर त्यागता है और उसी में जा मिलता है। मृत्युकाल बड़ा ही विकट कष्ट का होता है । इसमें अचेत हो जाना स्वाभाविक है । परमात्म-प्राप्ति का गहरा प्रेम और उसमें तन-मन से मग्न रह कर, जीवन भर ध्यान-योग-द्वारा जो उसकी उपासना करता रहेगा, वही उस कठिन काल में भी परमात्मा को भजता हुआ शरीर त्याग कर सकेगा । जो सर्वदा अपने मन और बुद्धि को परमात्मा में लगाये रह कर अपने कर्त्तव्य-कर्म्मों का पालन करता रहेगा, अथवा "तन काम में,

*इस अध्याय के श्लोक ३ में 'परमाक्षर ब्रह्म' वर्णित हुआ है ।

मन राम में"* वा "पलटू कारज सब करै, सुरत रहै अलगान।" का साधन करता रहेगा और एकान्त हो-हो कर नित्य नियमित रूप से भी ध्यानाभ्यास करता रहेगा, वह अन्त में अवश्य ही जीवन्मुक्त होगा और परमात्मा से जा मिलेगा। जो जिसका सदा स्मरण करता है और देह-त्याग के काल में उसी में अपने को लगाये रह कर शरीर त्यागता है, वह उसमें जा मिलता है।

चित्तवृत्ति के निरोध का अभ्यास करके उसे दूसरी ओर न जाने देकर जो परमात्मा की ओर एकाग्र होता है, वह दिव्य परम-पुरुष को पाता है। सर्वज्ञ; पुरातन, शासक, पालक अणु से भी छोटा और सूर्य्य-सदृश ज्योतिर्मय (ज्योतिर्मय बिन्दु) परम पुरुष के रूप को भक्तियुक्त होकर और योगबल से अपने प्राण (चेतना—सवित्—सुरत) को अपने भौओं के बीच में स्थिर रख कर दर्शन करता हुआ, अपने शरीर से चलने के समय या मृत्यु के समय जो डूबा रहता है, वह उस परम पुरुष को पाता है। [मरण काल में ऐसा उसको नहीं हो सकता, जो केवल कर्म्म-योग करे और छठे अध्याय में बतायी हुई विधि से ध्यानयोग के सहित (इस अध्याय के श्लोक ७ में वर्णित रूप से) कर्म्मयोग का जीवन-भर साधन न करता रहे। इस अध्याय के श्लोक ७ में कथित कर्म्ममोग ही सब प्रकार के कर्म्मयोगों में उत्तम है। इसके अतिरिक्त दूसरे सबको ऐसा कहना—"सो सब करम-धरम जरि जाऊ। जहँ न राम पद-पङ्कज भाऊ॥" (गो० तुलसीदास जी) अनुचित नहीं होगा।]

इस अध्याय के श्लोक ३ में जिस परमाक्षर-ब्रह्म (परमात्मा) का बखान वेदविद् (ज्ञानवान्) करते हैं और विरक्त लोग जिसकी प्राप्ति की इच्छा से ब्रह्मचर्य्य का पालन करते हैं, उसकी प्राप्ति का साधन यह है कि इन्द्रियों के सब द्वारों को रोक कर,

*इस अध्याय के श्लोक ७ का भावार्थ यही है।

मन को हृदय (योगहृदय) में स्थिर करके और प्राण को मस्तक में समेट कर समाधिस्थ हो अर्थात् तुरीयावस्था में अपने को लाकर ॐ शब्दब्रह्म का भजन करे।

इस प्रकार भजन करता हुआ जो योगी शरीर त्यागता है, वह परमाक्षर को पाकर परम गति अर्थात् ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त करता है। इस गति की आकांक्षा रखनेवालों को नित्य निरन्तर परमात्मदेव का भजन कर, नित्ययुक्त योगी होना चाहिये। तब वह उस परमात्मदेव को पावेगा। वह दुःखमय नाशवान् संसार को त्याग कर, जन्म-मरण के चक्र को पार कर जायगा।

ब्रह्मलोक-सहित सब लोक बनते और नाश होते रहते हैं। ब्रह्मा का एक दिन एक हजार युगों का और उतने ही समय की उसकी एक रात होती है। उस दिन अव्यक्त प्रकृति से यह व्यक्त सृष्टि बनती है और रात होने पर वह सृष्टि नष्ट होकर अव्यक्त में लीन हो जाती है। इस अव्यक्त प्रकृति से परे दूसरा अव्यक्त भाव और भी है। सबके नाश होने पर भी जिसका नाश नहीं होता है और जिसको पाकर प्राणी का जन्म नहीं होता है; वही परमात्मा का परम धाम है।

इस अध्याय में यह भी कहा गया है कि उत्तरायण के अन्दर के छः मास के शुक्लपक्ष में, दिन के समय जबकि अग्नि की ज्वाला उठ रही हो, जिस ब्रह्मज्ञानी की मृत्यु हो, वह ब्रह्म को पाता है। और दक्षिणायन के छः मास के कृष्णपक्ष में, जब रात्रि के समय धुआं फैला हुआ हो, उस समय मरने वाला चन्द्रलोक को पाकर पुनर्जन्म पाता है। परन्तु पूर्व कही गई विधि से जीवन बिता कर मृत्यु के समय पूर्व कथनानुसार जो प्राण स्थापित रखेगा, उस पर उत्तरायण और दक्षिणायन का कोई प्रभाव नहीं हो सकेगा। वह पूर्व लिखित गति को अवश्य प्राप्त

करेगा। हाँ! यदि उत्तरायण को ऊपर* के छः स्थान [(१) सहस्रदल कमल, (२) त्रिकुटी, (३) शून्य, (४) महाशून्य, (५) भँवरगुफा और (६) सत्यलोक] मान लें—दिन और प्रकाश को अन्तर्ज्योति मानें तथा नीचे* के छः चक्रों [(१) आज्ञा, (२) विशुद्ध, (३) अनाहत, (४) मणिपूरक,(५) स्वाधिष्ठान और (६) मूलाधार] को दक्षिणायन मान लें, तो पूर्व कथनानुसार शरीर त्यागने वाले की गति में मेल मिल जायगा। भीष्मपितामह ने बहुत कष्ट सहन कर उत्तरायण में शरीर छोड़ा था, परन्तु ब्रह्म के पास न जाकर वसुओं के निवास-स्थान देवलोक वाले स्वर्ग में गये।†

॥ अष्टम अध्याय समाप्त ॥

---

*भूमण्डल का चित्र देखें—ऊपर उत्तर और नीचे दक्षिण।

†"वसुभि सहितं पश्य भीष्मं शान्तन्वं नृपम् ।"

(महाभारत स्वर्गारोहण पर्व्व अ० ४ श्लोक २१)

भावार्थ—राजा शान्तनु के पुत्र, भीष्म पितामह को वसुओं के साथ देखो।

"वसूनेव महातेजा भीष्मः प्राप महाद्युतिः।
अष्टावेवहि दृश्यन्ते वसवो भरतर्षभ।।"

(महाभारत स्वर्गारोहण पर्व्व अ० ५ श्लोक ११-१२)

भावार्थ—महातेजस्वी बड़े पराक्रमी भीष्म जी वसुओं में लीन हो गये।

श्रीमद्भगवद्गीता 'महाभारत' का एक अति छोटा, परन्तु महा तेजस्वी अंश है। अतएव महाभारत से इसका मेल अवश्य मिलना चाहिये।

अध्याय—९

अथ राजविद्याराजगुह्ययोग

इस अध्याय का विषय राजविद्या राजगुह्ययोग है।

यह नाम बड़ा आकर्षक है। इसमें कहा गया है कि इसमें दिया गया ज्ञान अकल्याण से बचावेगा। इसमें पापों से मुक्त करने वाला विज्ञान-सहित ज्ञान बतलाया गया है। सब गूढ़ और गुप्त रहस्यों में यह सर्वश्रेष्ठ है और राजाओं की विद्या है। राजाओं की विद्या यह इसलिये है कि भगवान् श्रीकृष्ण ने बतलाया है कि मैंने यह विद्या या ज्ञान पहले सूर्य्य को दिया, सूर्य्य ने राजा मनु को दिया, मनु ने राजा इक्ष्वाकु को दिया और राजा जनक भी इसका आचरण करते थे। इस तरह यह विद्या राजाओं की परम्परा में बहुत दिनों तक थी, इसीलिये यह राजविद्या कही गई है। कुछ लोग राजविद्या का अर्थ श्रेष्ठ विद्या भी करते हैं। अवश्य ही इसकी श्रेष्ठता भी अस्वीकार करने योग्य नहीं है। यह पवित्र और उत्तम विद्या प्रत्यक्ष बोध देने वाली, धर्ममय, आचरण में सुख-साध्य और अक्षय है; परन्तु इसमें श्रद्धा की विशेषता है।

श्रद्धावन्त परम गति प्राप्त करेगा और श्रद्धाहीन संसार-चक्र में भ्रमता हुआ सांसारिक दुःखों को भोगता ही रहेगा। गुरु-वाक्य, सच्छास्त्र और सद्विचार; तीनों का मेल मिलने पर जो अटल विश्वास होता है, उसीको श्रद्धा कहते हैं। परमात्मा की स्थिति में, उसके व्यक्त और अव्यक्त रूप और स्वरूप की भक्ति की मुक्ति होने में गुरु-वाक्य, सच्छास्त्र और सद्विचार; तीनों का मेल है। अतएव इन बातों में अवश्य ही श्रद्धा होनी चाहिये।

परमात्मा का अव्यक्त स्वरूप ऐसा है कि उनमें समूचा विश्व भरा हुआ है। उनमें और उनके ही आधार पर सब रहते हैं, परन्तु वे किसी आधार पर नहीं हैं। उनमें रहते हुए सब उनको नहीं पहचानते—अपने आधार को प्रत्यक्ष रूप से नहीं जानते और परमात्मा भी अपने में सबको रखते हुए तथा सबका आधार बनते हुए, अत्यन्त निर्लिप्त भाव को धारण किये रहते हैं। अतएव ये ऐसे ही हैं, जैसे कि परमात्मा में सम्पूर्ण विश्व है ही नहीं। सबकी उत्पत्ति का कारण और सबके पालक होकर वे सबमें व्यापक रहते हुए भी उपर्युक्त कारणों से उनमें नहीं हैं। यह परमात्मा का दिव्य योगबल है। जैसे सर्वत्र घूमता हुआ महावतास सदा आकाश में रहता है, उसी भाँति सारा विश्व परमात्मा में रहता है। कल्पारम्भ में सबको परमात्मा रचते हैं और कल्पान्त में सब उनकी प्रकृति में लय होते हैं। उनका यह सृष्टि-व्यापार अनवरत रूप से होता ही रहता है पर कर्म्म का बन्धन परमात्मा को नहीं होता है। क्योंकि परमात्मा इसमें अनासक्त रह कर उदासीन हो बरतते रहते हैं। यह उनको निजी लीला है; न कि किसी अभ्यास-द्वारा उन्होंने अपने को ऐसा बनाया है। प्रभु परमात्मा की अधीनस्थ परा और अपरा; दोनों प्रकृतियों में यह सृष्टि का व्यापार उनकी प्रेरणा से होता रहता है। यह विश्व घटमाल (रहट-घरियों) की भाँति घूमा करता है।

श्रीमद्भगवद्गीता का उपदेश भगवान् श्रीकृष्ण-द्वारा संसार को मिला है। वे महायोगेश्वर थे। वे हरि के विशेषावतार कहे जाते हैं और प्राकृतिक गुणों से मुक्त भी कहे जाते हैं। महाभारत में लिखा है—

"आत्मा क्षेत्रज्ञ इत्युक्तः संयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः।
तैरेवतु विनिर्मुक्तः परमात्मेत्युदाहृतः॥"

(शान्ति पर्व १८७/२४)

अर्थ—जब आत्मा प्रकृति में या संसार में बद्ध रहती है, तब उसे क्षेत्रज्ञ या जीवात्मा कहते हैं और वही प्राकृत गुणों से, यानी प्रकृति या शरीर के गुणों से मुक्त होने पर 'परमात्मा' कहलाता है।

अव्यक्त आत्म-स्वरूप से श्रीकृष्ण परमात्मा और व्यक्तरूप में मनुष्य शरीरधारी थे। उनके अनुसरण के द्वारा लोकपथ कल्याण-मय हो, इसीलिये वे भी योगाभ्यास किया करते थे। योग की शक्तियाँ तो उनके शिशुकाल से ही संसार में प्रकट हो गई थीं। तात्पर्य यह कि उनको योगबल प्राप्त करने के लिये योगाभ्यास करना नहीं था। इनके नर-रूप को देख कर इनकी अवज्ञा करनी मूर्खता और आसुरी भाव है। मर्यादा पुरुषोत्तम (दाशरथि) श्रीराम भगवान्, वैकुण्ठवासी वा क्षीरसमुद्रवासी भगवान् विष्णु, भगवान् शंकर और भगवती शक्तिमाता के लिये भी उपर्युक्त बातें लागू हैं। इनके इन्द्रियगम्य क्षेत्र दिव्य भले ही हों, परन्तु वे अप्राकृत† (निर्मायिक) गुणों से युक्त नहीं हो सकते। नर-शरीर वा देव-शरीर वा किसी प्रकार के क्षेत्र का क्षेत्रज्ञ ही प्राकृत गुण रहित होने से परमात्म-स्वरूप है। सन्त की भी यही दशा मानी जाती है।

"सन्त भगवन्त अन्तर निरन्तर नहिं किमपि,
मति विमल कह दास तुलसी।"
(विनय पत्रिका)

"साधु मिलै साहब मिलै, अन्तर रहा न रेख।
मनसा वाचा कर्मणा, साधू साहब एक॥"
(कबीर साहब)

"साहिब से सतगुरु भये, सतगुरु से भये साध।
ये तीनों अंग एक हैं, गति कछु अगम अगाध॥"
(गरीब दास)

---

† 'अप्राकृत रूप' दिव्य वा अदिव्य इन्द्रियों से जानने योग्य नहीं है।

"गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवः सदाशिवः।
न गुरोरधिकः कश्चिन्त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥५६॥
दिव्यज्ञानोपदेष्टारं देशिकं परमेश्वरम्।
पूजयेत्परयाभक्त्या तस्य ज्ञानफलं भवेत् ॥५७॥
यथा गुरुस्तथैवेशो यथैवेशस्तथा गुरुः।
पूजनीयो महाभक्त्या न भेदो विद्यतेऽनयोः ॥५८॥"

(योगशिखोपनिषद्, अ० ५)

अर्थ—गुरुदेव ही ब्रह्मा, विष्णु, और सदाशिव हैं। तीनों लोकों में गुरु से बढ़ कर कोई नहीं हैं ॥५६॥ दिव्यज्ञान के उपदेश देने वाले प्रत्यक्ष उपस्थित परमेश्वर की भक्ति के साथ उपासना करे, तब वह (शिष्य) ज्ञान का फल प्राप्त करेगा ॥५७॥ जैसे गुरु हैं, वैसे ईश हैं, जैसे ईश हैं, वैसे गुरु हैं; इन दोनों में भेद नहीं है—इस भावना से पूजा करे ॥५८॥

स्वयं गीता में भी तत्त्ववेत्ता ज्ञानी की सेवा और उनके आदर-भाव करने अर्थात् अवज्ञा नहीं करने के लिये लिखा है। (अध्याय ४ श्लोक ३४)।

अव्यक्त और सर्वव्यापी होने के कारण परमात्मदेव के लिये "अचर चर रूप हरि सर्वगत सर्वदा वसत ...." (विनय-पत्रिका) कहना अयुक्त नहीं है। अपने श्रद्धानुकूल किसी एक रूप को प्रभु परमात्मा का रूप मान कर भक्ति का आरम्भ कर देना अनुचित, अयोग्य और अयुक्त नहीं है। इस नवें अध्याय में परमात्मा के व्यक्त और अव्यक्त दोनों रूपों का वर्णन है, तो भक्त व्यक्त से अव्यक्त स्वरूप तक को पा जाने की इच्छा और प्रयास क्यों न करे ?

इस अध्याय में परमात्मा के व्यक्त रूप की बाह्य-पूजा से उपासना करने को विशेष रूप से कहा गया है। कीर्त्तन, प्राणायाम

और ध्यान से उनकी उपासना करनी चाहिये। "श्रद्धा-प्रीति से अर्पित पुष्प, पत्र और जल आदि को वे ग्रहण करते हैं।" अद्वैत भाव से द्वैत भाव वा अनेक भाँति के ज्ञान-यज्ञ से उस सर्वव्यापी परमात्मा को भजना चाहिये। यज्ञ का संकल्प, यज्ञ-स्वधा (पितरों के लिये अर्पित अन्न वा अर्पण करने का मन्त्र), यज्ञ की वनस्पति, आहुति, हवन-द्रव्य, जगत् का पिता माता, पितामह, धारण करने वाला, जानने-योग्य, पवित्र ॐकार (शब्द ब्रह्म, स्फोट, उद्गीथ, और प्रणव) ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, गति, पोषक, प्रभु, साक्षी, निवास, आश्रय, हितेच्छु, उत्पत्ति, नाश, स्थिति, भण्डार, अविनाशी बीज, धूप देनेवाला, वर्षा रोकने वाला, वर्षा बरसाने वाला, अमरता, मृत्यु, असत् (अपरा प्रकृति) और सत् (परा प्रकृति); ये सब के सब परमात्मा ही हैं।

परमात्मा को अनन्य भाव से भजनेवाले को आवश्यक वस्तुओं की प्राप्ति कराने और रक्षा करने का भार स्वयं परमात्मा ही उठाते हैं।

तीनों वेदों के अनुकूल यज्ञ करके यज्ञकर्त्ता स्वर्ग को भोग कर पुण्य क्षीण होने पर पुनः इस मृत्युलोक में जन्म लेता है और जन्म-मरण के चक्र में भरमता रहता है।

श्रद्धायुक्त हो देवताओं को पूजनेवाला, विधिरहित होते हुए भी परमात्मा को ही भजता है। वह परमात्मा को ही सर्व यज्ञों का भोगनेवाला नहीं जानता, इसलिये गिरता (पुनर्जन्म को प्राप्त होता) है। इस तरह देवताओं को भजने वाला देवताओं को पाता है, पितरों का पूजक पितृलोक पाता है, प्रेतादि का पूजक उनके लोकों को पाता है और परमात्मा का भक्त परमात्मा को पाता है। (व्यक्त रूप का भक्त व्यक्त रूप को और अव्यक्त का भक्त अव्यक्त परमात्म-स्वरूप को पाता है।)

भक्त को चाहिये कि जो करे, जो खाय, जो हवन में होमे और जो तप करे, वह सब परमात्मा को अर्पित करे। ऐसा त्यागी भक्त कर्म्म-बन्धन से मुक्त होकर परमात्मा में मिल जायगा। (करना और भोगना चित्त का धर्म है।) केवल बौद्धिक और मौखिक अर्पण से यथार्थ अर्पण होना असम्भव है। इसके लिये समाधि-साधन-द्वारा स्थितप्रज्ञता चाहिये, नहीं तो स्थितप्रज्ञता-विहीन बौद्धिक और मौखिक अर्पण, अनर्पण हो जायगा और कबीर साहब के वाक्यानुकूल फल भोगेगा। यथा—

"तन मन दिया तो भल किया, सिर का जासी भार।
कबहूँ कहै कि मैं दिया, घनी सहैगा मार॥"

(कबीर साहब)

चित्त-धर्म पर विजय प्राप्त करके ही समाधि-द्वारा स्थित-प्रज्ञता प्राप्त होगी। श्रवण, मनन, निदिध्यासन और अनुभवज्ञान की पूर्णता की स्थिति में चित्त-धर्म पर विजय प्राप्त होगी। निदिध्यासन के साधन (प्राणस्पन्दन का निरोध वा वासना-परित्याग) के द्वारा एक तत्त्व का दृढ़ाभ्यास करते-करते मन पर पूर्णरूप से विजय प्राप्त होगी।

(मुक्तिकोपनिषद् अ० २ देखें)

परमात्मा सबमें सम भाव से रहते हैं। कोई उनको प्रिय या अप्रिय नहीं है। परन्तु जो उनको भक्ति-सहित भजता है, वे उसमें रहते हैं अर्थात् सर्वव्यापी परमात्मा में अपने को वह आत्मज्ञान से प्रत्यक्ष पाता है और परमात्मा उसमें रहते हैं; जैसे जल में जल हो—

"ज्यौं जल में जल पैठ न निकसे यों ढुरि मिला जुलाहा।"

(कबीर साहब)

"जल तरंग जिउ जलहि समाइया.........................।"

(गुरु नानक)

"...................जानत तुम्हहिं तुम्हहिं होइ जाई।"

(गो० तुलसीदास)

घोर दुराचारी भी यदि अनन्य भाव से परमात्मा को भजे, तो उसके अच्छे संकल्प के कारण वह साधु मानने-योग्य होता है। वह शीघ्र धर्मात्मा हो जाता है और सदा की शान्ति प्राप्त करता है।

प्रभु परमात्मा के भक्त को भवसागर की नाशवन्त गतियों से मुक्ति मिल जाती है। जब पापयोनि में जन्म लेने वाली स्त्रियाँ और शूद्र, जो भी परमात्मा की शरण लेते हैं, वे परमगति पाते हैं, तब पुण्ययोनि में जन्म लेकर जो भगवान् के भक्त होते हैं, उनके लिये कहना ही क्या है ? इसलिये हे लोगो ! इस अनित्य और सुख-रहित लोक में जन्म लेकर भगवान् का भजन करो। उसमें मन लगाओ, उसके भक्त बनो, उसके लिये यज्ञ करो और उसे प्रणाम करो। इस तरह उसमें परायण रह कर आत्मा को परमात्मा के साथ जोड़ कर उसको पाओगे। परमात्मा के स्थूल, व्यक्त सगुण नररूप, सगुण देवरूप, अणु से अणु सूक्ष्म सगुण रूप, ॐ(निर्गुण शब्द-ब्रह्म) रूप और स्वरूप हैं। आत्मा का मिलाप या योग परमात्म-स्वरूप से होगा। मन सूक्ष्म-सगुण तक युक्ति से लग सकता है। मनविहीन चेतन-आत्मा जब निर्गुण शब्द-ब्रह्म ॐमें लगेगी, तब उससे आकृष्ट हो उसके लय-स्थान (परमात्म-स्वरूप) तक पहुँचेगी। आत्मा-परमात्मा के एकीभाव—

"न पल बिछुड़े पिया हमसे न हम बिछुड़ें पियारे से" और

"ज्यों जल में जल पैठ न निकसे, यों ढुरि मिला जुलाहा।"

(कबीर साहब)—की स्थिति प्रत्यक्ष प्रगट हो जायगी।

स्थूल-सगुण रूप के अतिरिक्त उसके सूक्ष्म-सगुण भाव को भी जानना और उनकी भी उपासना करनी चाहिये। इसीलिये गीता में अणु से भी अणु रूप परमात्मा का वर्णन है। निर्गुण स्वरूप का भी ज्ञान प्राप्त हो, उनकी उपासना की जाय, इसीलिये गीता में ॐ तथा अव्यक्त स्वरूप का भी वर्णन है। जैसे भाँति-भाँति के पहिरावे के बदलने से पहनने वाला नहीं बदलता, वह अपने तईं जो का सो ही रहता है, उसी तरह स्थूल-सूक्ष्म तथा सगुण-निर्गुण भावों में परमात्मा ही रहते हैं।

केवल स्थूल सगुण रूप की ही उपासना से और उनकी कृपा से सूक्ष्म सगुण, निर्गुण शब्द-ब्रह्म (ॐ) तथा अव्यक्त स्वरूप परमात्मा के, आप से आप मिलने का विश्वास रखना तथा सूक्ष्म सगुण और निर्गुण की उपासना को अनावश्यक प्रतीत करना, ठीक नहीं।

यदि वे उपासनाएं अनावश्यक होतीं, तो गीता में कही ही नहीं जातीं। अध्याय ८ के श्लोक ९ से १३ में इनकी उपासना और उसका फल साफ-साफ कहा गया है।

श्रीमद्भागवत में भी स्थूल सगुण उपासना के अनन्तर शून्य-ध्यान(सूक्ष्म सगुण-उपासना)का क्रमानुसार कथन किया गया है। (स्कन्ध ११, अध्याय १४, श्लोक ३२, ३४, ४२, ४३ और ४४)। अव्यक्त निर्गुण स्वरूप के विषय में सूरदासजी के ये शब्द हैं—

"जौं लौं सत्य स्वरूप न सूझत।
तौं लौं मनु मणि कण्ठ बिसारे, फिरत सकल बन बूझत॥
अपनो ही मुख मलिन मन्द मति, देखत दर्पण माँह।
ता कालिमा मेटिबे कारण, पचत पखारत छाँह॥
तेल तूल पत्राक पुट भरि धरि, बनै न दिया प्रकासत।

कहत बनाय दीप की बातें, कैसे हो तम नासत ।।
सूरदास जब यह मति आई, वे दिन गये अलेखे ।
कह जाने दिनकर की महिमा, अन्ध नयन बिनु देखे ।।"

तथा—

"अपुनपौ आपुन ही में पायो ।
शब्दहि शब्द भयो उजियारो, सतगुरु भेद बतायो ।।
ज्यों कुरंग नाभी कस्तूरी, ढूंढ़त फिरत भुलायो ।
फिर चेत्यो जब चेतन ह्वै करि, आपुन ही तन छायो ।।
राज कुंआर कंठे मणि भूषण, भ्रम भयो कह्यो गंवायो ।
दियो बताइ और सतजन तब, तनु को पाप नशायो ।।
सपने मांहि नारि को भ्रम भयो, बालक कहूँ हिरायो ।
जागि लख्यो ज्यों को त्यों ही है, ना कहुँ गयो न आयो ।।
सूरदास समुझे कि यह गति, मन ही मन मुसुकायो ।
कहि न जाय या सुख की महिमा, ज्यों गूंगो गुड़ खायो ।।"

(भक्तवर सूरदास)

केवल स्थूल-सगुण को ही हठपूर्वक पकड़े नहीं रहना चाहिये। इसीलिये लोकमान्य बाल गंगाधर तिकल जी ने 'गीतारहस्य' के भक्ति-मार्ग प्रकरण में लिखा है—"साधन की दृष्टि से यद्यपि वासुदेव-भक्ति को गीता में प्रधानता दी गई है, तथापि अध्यात्म-दृष्टि से विचार करने पर वेदान्त-सूत्र की नाईं (वे० सू० ४।१।४) गीता में भी यही स्पष्ट रीति से कहा है, कि 'प्रतीक' एक प्रकार का साधन है—वह सत्य, सर्वव्यापी और नित्य परमेश्वर हो नहीं सकता। अधिक क्या कहें ? नाम रूपात्मक और व्यक्त अर्थात् सगुण वस्तुओं में से किसी को भी लीजिये, वह माया ही

है; जो सत्य परमेश्वर को देखना चाहें, उसे इस सगुण रूप के भी परे अपनी दृष्टि को ले जाना चाहिये। भगवान् की जो अनेक विभूतियाँ हैं, उनमें अर्जुन को दिखलाये गये विश्वरूप से अधिक व्यापक और कोई भी विभूति हो नहीं सकती। परन्तु जब यही विश्वरूप भगवान् ने नारद को दिखलाया, तब उन्होंने कहा है, "तू मेरे जिस-रूप को देख रहा है यह सत्य नहीं है, यह माया है, मेरे सत्य स्वरूप को देखने के लिये इसके भी आगे तुझे जाना चाहिये।" (महाभारत शान्ति पर्व ३३९।४४) और गीता में भी भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से स्पष्ट रीति से यही कहा है—

"अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥" (गीता ७।२४)

यद्यपि मैं अव्यक्त हूँ, तथापि मूर्ख लोग मुझे व्यक्त (गीता ७।२४) अर्थात् मनुष्य-देहधारी मानते हैं (गीता ९-११); परन्तु यह बात सच नहीं है, मेरा अव्यक्त स्वरूप ही सत्य है। इसी तरह उपनिषदों में भी यद्यपि उपासना के लिये मन, वाचा, सूर्य्य, आकाश इत्यादि अनेक व्यक्त और अव्यक्त ब्रह्म-प्रतीकों का वर्णन किया गया है, तथापि अन्त में यह कहा है कि जो वाचा, नेत्र या कान को गोचर हो, वह ब्रह्म नहीं है। जैसे—

"यन्मनसा न मनुते येनाऽहुर्मनोमतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धिनेदं यदिदमुपासते॥"

(केनोपनिषद् खण्ड १, मंत्र ५)

अर्थ—मन से जिसका मनन नहीं किया जा सकता, किन्तु मन ही जिसकी मनन-शक्ति में आ जाता है, उसे तू ब्रह्म समझ; जिसकी उपासना (प्रतीक के तौर पर) की जाती है, वह सत्य ब्रह्म नहीं है।

'नेति नेति' सूत्र का भी यही अर्थ है। मन और आकाश को लीजिये; अथवा व्यक्त उपासना-मार्ग के अनुसार शालिग्राम, शिवलिङ्ग इत्यादि को लीजिये; या श्रीराम, कृष्ण आदि अवतारी पुरुषों की अथवा साधु पुरुषों की व्यक्त मूर्त्ति का चिन्तन कीजिये; मंदिरों में शिलामय अथवा धातुमय देव की मूर्त्ति को देखिये; अथवा बिना मूर्त्ति का मंदिर या मस्जिद लीजिये—ये सब छोटे बच्चे की लंगड़ी गाड़ी के समान मन को स्थिर करने के अर्थात् चित्त की वृत्ति को परमेश्वर की ओर झुकाने के साधन हैं। प्रत्येक मनुष्य अपनी-अपनी इच्छा और अधिकार के अनुसार उपासना के लिये किसी प्रतीक को स्वीकार कर लेता है। यह प्रतीक चाहे कितना प्यारा हो, इस बात को नहीं भूलना चाहिये कि सत्य परमेश्वर इस "प्रतीक में नहीं है"—"न प्रतीके न हि सः (वे० सू० ४।१।४) उसके परे हैं।" ....यह मनुष्यों की अत्यन्त शोचनीय मूर्खता का लक्षण है कि वे इस सत्य तत्त्व को तो नहीं पहचानते कि ईश्वर सर्वव्यापी, सर्वसाक्षी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और उसके परे अर्थात् अचिन्त्य है। किन्तु वे ऐसे नाम-रूपात्मक व्यर्थ अभिमान के अधीन हो जाते हैं कि ईश्वर ने अमुक समय, अमुक वेश में, अमुक माता के गर्भ से, अमुक वर्ण का, नाम का या आकृति का जो व्यक्त स्वरूप धारण किया, वही केवल सत्य है—और इस अभिमान में फँस कर एक दूसरे की जान लेने तक को उतारू हो जाते हैं।"

महात्मा गांधी का कथन—"साकार के उस पार निराकार अचिन्त्य स्वरूप है, यह तो सब को समझे ही निस्तार है। भक्ति की पराकाष्ठा यह है कि भक्त भगवान् में विलीन हो जाय और अन्त में केवल एक अद्वितीय अरूपी भगवान् ही रह जायँ।"

(अनासक्तियोग, अध्याय १२ श्लोक ५ के अर्थ की टिप्पणी से।)

आचार्य विनोबा जी का कथन—"सगुण पहले, परन्तु उसके बाद निर्गुण की सीढ़ी आनी ही चाहिये, नहीं तो परिपूर्णता नहीं होगी।" (गीता प्रवचन, पृष्ठ १७३)।

इन उद्धरणों का आशय यह है कि परमात्मा के सगुण और निर्गुण; दोनों रूपों का ज्ञान और उनकी उपासना चाहिये।

राजविद्या का क्या अभिप्राय है, इसके पहले लिखा जा चुका है। अब राजगुह्य का अभिप्राय भी स्पष्ट रूप से जान लेना आवश्यक है। गुप्त या गूढ़ रहस्यों में जो सबसे विशेष गुप्त हो, उनको राजगुह्य कहना चाहिये। इस अध्याय के किस विशेष रहस्यमय कथन को यह आकर्षक नाम दिया गया है? यदि कहें कि प्रत्यक्ष जानने में आने योग्य स्थूल-सगुण नर-रूप परमात्मा के रूप की अवज्ञा नहीं करके उसमें अत्यन्त श्रद्धा रख कर, इस अध्याय में कही गई रीति से भक्ति करने का जो कथन है, वही राजगुह्य तत्त्व है; तो यह कोई गुप्त और विशेष रहस्यमयी बात नहीं जान पड़ती। यह भक्ति तो भारत में सर्वत्र प्रगट है और अति व्यापक रूप से विदित है। हां, यदि उपर्युक्त प्रचलित स्थूल-सगुण भक्ति में सूक्ष्म-सगुण 'अणोरणीयाम्'* (बिन्दु) रूप की भक्ति और ॐ† (शब्दब्रह्म वा ब्रह्मनाद) रूप निर्गुण निराकार-भक्ति मिला दें, तो इस प्रकार की सर्वाङ्गपूर्ण परमात्म-भक्ति‡ को अवश्य 'राजगुह्य' कहेंगे।

---

* गीता अध्याय ८ श्लोक १३।

† गीता अध्याय ८ श्लोक ९।

‡ स्थूल सगुण भक्ति + सूक्ष्म सगुण अणोरणीयाम् (बिन्दु) रूप की भक्ति + ॐ (शब्दब्रह्म वा ब्रह्मनाद) रूप निर्गुण निराकार-भक्ति = सर्वाङ्गपूर्ण परमात्म-भक्ति।

यह प्रकट रूप से विख्यात नहीं है और अति स्वल्प-संख्यक लोग ही इसे जानते हैं। यदि कहा जाय कि परमात्मा के ये (बिन्दु और नाद) रूप प्रत्यक्षावगम (प्रत्यक्ष जानने में आने योग्य) नहीं हैं, तो इनके द्वारा उपासना वा भक्ति-विधि को 'राजगुह्य' कैसे माना जाय ? तो उत्तर में निवेदन है कि क्या जन्मान्ध को सूर्य्य वा कोई अन्य रूप देखने में आता है ? क्या जन्मान्ध का कुछ भी देखना असम्भव नहीं है ? परन्तु जो जन्मान्ध नहीं हैं, उनके लिये संसार के विविध रंग-रूप क्या प्रकट नहीं हैं ? क्या, अणुवीक्षण यन्त्र से और युक्ति से वायु में भँसते हुए अनेक त्रसरेणु और कीटाणु नहीं देखे जाते हैं ? देखने और सुनने की युक्तियाँ भक्तों को भेदी (युक्ति-जानने वाले) गुरु-द्वारा ज्ञात होती हैं; जिनके द्वारा अभ्यास करके वे बिन्दु और नाद को सुखसाध्य रीति से प्रकट पाते हैं। परन्तु जिनको इसका गुरु नहीं, जिनको गुरु की आवश्यकता ही नहीं जानने में आवे और जो गुरु में श्रद्धा-भक्ति रखनी पाप, अयोग्यता, अपना अपमान और मूढ़ता जाने वा गुरु में श्रद्धा-भक्ति रखने वाले होते हुए भी जिनकी बुद्धि केवल स्थूल और वाह्य भक्ति-विधि की टेक में ही जकड़ कर अड़ी हुई रहती है—ऐसे लोग राजगुह्य नाम की भक्ति को जैसा कुछ समझें, उनके लिये वही ठीक है।

मैं अत्यन्त दृढ़तापूर्वक कहता हूँ कि राजगुह्य नाम की भक्ति ही असली राजयोग है। यदि गीता से कर्म्मयोग को निकाल दिया जाय तो गीता के सार रहस्य-रूप प्राण ही निकल जाते हैं। इस राजगुह्य नाम की भक्ति के साधक को कर्म्मयोग का साधन सुगमता से होता जायगा। कर्म्मयोगी कर्त्तव्य-कर्म्म में लगा रहता हुआ पहले स्थूल-सगुण रूप मन में बनाये रख कर कर्म्म कर सकेगा। बाद में सूक्ष्म-सगुण के दर्शन हो जाने पर

उसे ही मन से पकड़े हुए रह कर कर्म्म करेगा और अन्त में वह ॐ (ब्रह्मनाद) को प्राप्त करने पर अपने को उससे ही पकड़ा हुआ पावेगा। उसको सहज समाधि की स्थिति प्राप्त हो जायगी। वह सारे कर्त्तव्यों को करता हुआ जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति; तीनों अवस्थाओं में उस अनुपम परमात्मा से कभी नहीं बिछुडेगा।

"शब्द निरन्तर से मन लागा, मलिन वासना भागी।
ऊठत बैठत कबहुँ ना छूटै, ऐसी ताड़ी लागी॥"

(कबीर साहब)

"सोवत-जागत ऊठत बैठत, टुक विहीन नहिं तारा।
झिन-झिन जंतर निसि दिन बाजे, जम जालिम पचिहारा॥"

(दरिया साहब, बिहारी)

॥ नवम् अध्याय समाप्त ॥

अध्याय—१०

अथ विभूतियोग

इस अध्याय का विषय 'विभूतियोग' है। इसमें परमात्मा की विभूतियों का वर्णन किया गया है।

विभूति का अर्थ अलौकिक शक्ति है। इसकी अष्ट सिद्धियाँ—[(१) अणिमा (अदृश्य होने की शक्ति), (२) महिमा (अपने को बहुत बड़ा बना लेने की शक्ति), (३) गरिमा (अपने को जितना भारी या वजनदार बनाना चाहें, उतना भारी बनाने की शक्ति), (४) लघिमा (बहुत छोटा और बहुत हल्का बन जाने की शक्ति), (५)प्राप्ति (सभी इच्छाओं को पूर्ण कर लेने की शक्ति), (६) प्राकाम्य (स्वेच्छानुसार प्रचुरता लाभ की शक्ति), (७) ईशित्व (आधिपत्य प्राप्त कर लेने की शक्ति) और (८) वशित्व (अपने वश में कर लेने की शक्ति)] योगाभ्यास में प्राप्त होती हैं। परन्तु—

"रिद्धि सिद्धि प्रेरइ बहु भाई। बुद्धिहिं लोभ दिखावहिं आई।
होइ बुद्धि जौं परम सयानी। तिन्ह तन चितव न अनहित जानी॥"

(तुलसीकृत रामायण)

ऋद्धि-सिद्धि की प्रेरणा से बुद्धि के सामने अनेक प्रलोभन आते रहते हैं; परन्तु परम सयानी बुद्धि वही है, जो इन्हें अहितकर समझते हुए इनकी ओर जरा भी नजर उठा कर देखे तक नहीं।

ये मायिक सिद्धियाँ अवतारी पुरुषों में स्वाभाविक होती हैं। अध्याय ७, ८ और ९ में परमात्मा और उनकी भक्ति की महिमा बतलायी गई है। इसमें उसी प्रकार सब बतला कर यह कहा गया

है कि जो परमात्मा को अजन्मा और अनादि रूप में जानता है, वह सब पापों से छूट जाता है।

बुद्धि, ज्ञान, अमूढ़ता, क्षमा, सत्य, इन्द्रिय-निग्रह, शान्ति, सुख, दुःख, जन्म, मृत्यु, भय, अभय, अहिंसा, समता, सन्तोष, तप, दान, यश, अपयश आदि भाव, जो प्राणियों में उत्पन्न होते रहते हैं, वे सब के सब परमात्मा से उत्पन्न होते हैं। सर्वं चराचर में जो विशेष प्रभाव वाले हैं, उन सबके सहित सारी सृष्टि का सृजन परमात्मा ने ही किया है। परमात्मा परब्रह्म, परधाम, परम पवित्र, अविनाशी, दिव्य पुरुष और आदि देव हैं। वे स्वयं अपने को अपने से पहचानते हैं। परमात्मा की विभूतियों का सम्पूर्णतः वर्णन होना असम्भव है। उनका स्वल्पातिस्वल्प वर्णन इस प्रकार हैं कि प्राणियों की आत्मा, सब जीवों का आदि, मध्य और अन्त, ज्योतियों में सूर्य्य, रुद्रों में शंकर, विद्याओं में अध्यात्म-विद्या, वृष्णिकुल में वासुदेव और ज्ञानवान् का ज्ञान इत्यादि जो कुछ भी विभूतिवान, लक्ष्मीवान् या प्रभावशाली हैं, उनकी उत्पत्ति परमात्मा के तेजांश से ही समझनी चाहिये। परमात्मा की विभूतियाँ असंख्य हैं। उनके सम्पूर्ण विस्तार का वर्णन किया ही नहीं जा सकता है। वह अपने एक अंश-मात्र से इस सम्पूर्ण जगत् को धारण करके विद्यमान हैं। भगवान् श्री कृष्ण के शुभ कथन का सार रूप से यह आशय लिखा गया है।

इससे जानना चाहिये कि वृष्णिकुल में उत्पन्न नरतन-धारी तो वही थे। अपने को परमात्मभाव में जानते हुए अपने परम तेजस्वी नर-शरीर में अर्थात् साकार स्थूल-सगुण रूप में अपने ही को उन्होंने अपनी 'विभूति' बतलाई है। और अपने परमात्म-स्वरूप के केवल एक ही अंश के अन्दर उन्होंने अपने मंगलमय मानव-रूप को भी रखा है। इस परमात्मांश रूप को, सब प्राणियों के अन्दर की आत्मा को और भगवान् श्रीकृष्ण ने

परमात्म भाव में अपने को, गीता के बहुत स्थानों में तथा उसके इस अध्याय में भी अज-अविनाशी कहा है; सो सर्वथा उचित ही है। सारे जगत् को केवल एक ही अंश से धारण (वा भरपूर) करना बता कर परमात्म-स्वरूप की अनन्तता व्यक्त की गई है। विश्वरूप में वा देवरूप में वा अणु से भी अणु रूप में—अनन्त स्वरूपी परमात्मा का सम्पूर्णतः अँटना वा समा कर रहना असम्भव है। इसीलिये वृष्णिकुल में जन्मधारी वासुदेव-रूप को भी उपर्युक्त एक अंश के अन्दर ही गीता में बताया गया है। यदि कोई कहे कि वृष्णिकुल में तो हलधर श्रीबलराम भगवान् भी वासुदेव थे, तो गीता में यह व्यक्त नहीं किया गया है। विशेष तेजवानों को ही परमात्मा की विभूतियों में गिनाया गया है। श्रीबलभद्र और श्रीकृष्ण में विशेष तेजवान् तो श्रीकृष्ण ही थे। इसी से महातेजस्वी श्रीकृष्ण वासुदेव को परमात्मा के उपर्युक्त एक अंश में ही जानना अनुचित नहीं है। और महाभारत के स्वर्गारोहण पर्व्व अध्याय ५, श्लोक २८ में लिखा गया है कि—

"यः स नारायणो नाम देवदेवः सनातनः।
यस्यांशो वासुदेस्तु कर्मणाऽन्ते विवेश ह।"

अर्थ—जो देवताओं के भी देवता-सनातन नारायण हैं, उनके अंशरूप वासुदेव जी कर्म्मों के अन्त होने पर उसी में प्रविष्ट हो गये।

॥ दशम अध्याय समाप्त ॥

अध्याय—११

अथ विश्वरूप-दर्शनयोग

इस अध्याय का विषय 'विश्वरूप-दर्शनयोग' है।

विश्वरूप के दर्शन पाने की प्रार्थना पाण्डव अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण से की थी। उस विश्वरूप का दर्शन करने योग्य दिव्यदृष्टि अपने योगबल से अर्जुन को देकर तथा अपनी महिमा-विभूति को धारण कर, भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अभिलषित रूप का दर्शन दिया। वह रूप आश्चर्यमय था। अत्यन्त विशाल था। उसका ओर-छोर जाना नहीं जाता था। उसे अनन्त और सर्वव्यापी देव कह कर जनाया गया है। वह बड़ा प्रकाशमय था। हजारों सूर्यों का एक साथ प्रकट प्रकाशपुञ्ज भी उस महान् प्रकाशमय तेज-सदृश कदाचित ही हो। देवादि सर्व प्राणी उस महान् रूप में दिखाई पड़ते थे। उस रूप में हाथ, पैर, उदर, मुख और नेत्रादि सभी अवयव अनेकानेक दरसते थे। वह रूप मुकुटधारी, गदाधारी और चक्रधारी था। वह रूप इतना महा विकराल‡ था कि उसका दर्शन करके अर्जुन बहुत विस्मित, भयभीत और

---

‡ परमात्म-स्वरूप निर्मायिक है, त्रैगुणमयी प्रकृति से निर्मित नहीं है। अतः उसको विकराल नहीं कह सकते। उसका दर्शन शरीरयुक्त रहने से नहीं होता है, केवल आत्मा को ही होता है। परमात्मदर्शी आत्मा को उस दर्शन से वैसा डर नहीं होता, जैसा कि अर्जुन को विराट्रूप-दर्शन से हुआ था। अतः विराट्रूप का दर्शन मायिक रूप का दर्शन है।

व्याकुल था। उस रूप के मुखों में बड़े-बड़े दाँत थे। विकराल दाढ़वाले भयानक मुखों में कौरव-पाण्डव के वीरगण उसी तरह प्रवेश करते देखे जाते थे, जिस तरह दीपक-टेम में फतिंगे वेग से जा-जा कर पड़ते और जल कर विनाश को प्राप्त होते हैं। उन वीरों में से कितनों ही के सिर चूर होकर उस विश्वरूप के दाँतों के बीच में लगे हुए देखने में आते थे। ऐसा जान पड़ता था कि वह विश्वरूप सब लोगों को सब ओर से निगल कर अपने प्रज्वलित और भयानक मुख से उनका भक्षण कर रहा हो। यह भगवान् श्रीकृष्ण का सर्वनाशक एवं बढ़ा हुआ कालरूप था।

आश्चर्यमय अति भयंकर काल-सदृश विश्वरूप भगवान् ने अर्जुन को कहा—"प्रत्येक सेना में जो ये सब योद्धा आये हुए हैं, उनमें से तेरे न लड़ने से भी कोई बचने वाला नहीं है। इसलिये तू उठ खड़ा हो; कीर्ति प्राप्त कर और शत्रुओं को जीत कर राज भोग। इन्हें मैंने पहले ही मार रखा है; तू केवल निमित्त-मात्र बन। तू डर मत; युद्ध कर; शत्रुओं को तू रण में जीतने को है।" अर्जुन ने उन भगवान् को नमस्कार कर उनकी बहुत-सी स्तुतियाँ करके पुनः विशेष निवेदन किया—"आप अक्षर, सत्-असत्, सत्-असत् से भी परे, आदि देव, पुराण-पुरुष, जगत् के पिता और गुरु हैं। आप परम धाम हैं, आपको आगे-पीछे तथा सब ओर से बारम्बार साष्टांग प्रणाम करता हूँ। आपके इस उग्र रूप के दर्शन से मैं भयभीत और व्याकुल हूँ। मुझको क्षमा कीजिये और अपने पहले के चतुर्भुजी सौम्य रूप का ही पुनः दर्शन दीजिये।" अर्जुन की अनुनय-विनययुक्त स्तुतियों को सुन कर विराट्‌रूप भगवान् ने कहा—"इस रूप का दर्शन तुझको केवल अनन्य भक्त जान कर दिया है। यह दर्शन तेरे अतिरिक्त और किसी को पहले नहीं हुआ है। यह वेदाभ्यास, यज्ञ, शास्त्रों के अध्ययन तथा दान से किसी को नहीं मिल सकता है। तू

घबड़ा मत।" वासुदेव ने ऐसा कह अपना पूर्व परिचित रूप अर्जुन को फिर दिखलाया और कहा—"हे पाण्डव! जो सब कर्म्म मुझे समर्पित करता है, मुझमें परायण रहता है, मेरा भक्त बनता है, आसक्ति का त्याग करता है और प्राणिमात्र से द्वेष-रहित होकर रहता है, वह मुझे पाता है।"

विचारना चाहिये कि विश्वरूप आदि-अन्त-रहित कभी नहीं हो सकता, क्योंकि विश्व की व्यापकता तक ही होने के कारण वह विश्वरूप कहलाता है। विश्व वा संसार आदि-अन्त-सहित मानने योग्य है। और अवयवयुक्त रूप में अवयवों के भिन्न-भिन्न होने के ज्ञान के लिये अवश्य ही कुछ-न-कुछ शून्य चाहिये। यह शून्य तथा अलग से खड़े होकर अर्जुन ने विश्वरूप का दर्शन कर जो स्तुति और निवेदन किया था, इसमें अर्जुन और विराट्रूप भगवान् के बीच का शून्य और जिधर-जिधर से योद्धा लोग उन भगवान् के विकराल मुख में घुसते और मर-मर कर गिरते थे, उधर-उधर के रिक्त स्थान का शून्य, ये सब शून्य परमात्मा के आदि-अन्त-रहित वा असीम स्वरूप को नहीं दरसाते हैं। अतएव विराट्रूप भगवान् के इस दर्शन को परमात्म-स्वरूप का दर्शन कैसे माना जाय?

अध्याय ९ में दरसा आया हूँ कि यह विश्वरूप भी भगवान् की माया ही थी। अर्जुन को भगवान् से दी गई दिव्य दृष्टि परमात्म-दर्शन की आत्मरूप-दृष्टि नहीं थी, दिव्य माया के दर्शन करने की ही दृष्टि थी। न अर्जुन उस समय तुरीयावस्था में रहते हुए समाधि में थे और न संजय ने ही समाधि में रह कर विराट् भगवान् और अर्जुन को उस समय देखा था और न उनके कथोपकथन को सुना था। अर्जुन और संजय, दोनों ही उस समय जाग्रतावस्था में थे। परमात्म-दर्शन—जाग्रत,

स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं में नहीं, बल्कि तुरीयावस्था के आरम्भ में भी नहीं, वरन् अन्त में होता है। परमात्मा के विश्वरूप को उनका मायिक रूप न मान कर उसी को उनका क्षराक्षर-पर, परमाक्षर-पुरुषोत्तम स्वरूप मान लेना यथार्थ और विचारयुक्त नहीं है।

॥ एकादश अध्याय समाप्त ॥

अध्याय—१२

अथ भक्तियोग

इस अध्याय का विषय भक्तियोग है।

इसमें भक्ति-विषय का वर्णन किया गया है। इसके आरम्भ में ही अर्जुन ने पूछा है कि व्यक्त और अव्यक्त रूप के उपासकों में कौन योगी श्रेष्ठ मानने योग्य है? उत्तर में कहा गया है कि व्यक्त उपासक श्रेष्ठ है, और सर्वव्यापी अव्यक्त के उपासक भी परमात्मा को ही पाते हैं; परन्तु इस उपासक को कष्ट अधिक होता है। क्योंकि अव्यक्त गति को देहधारी कष्ट से ही पा सकता है।

अब विचारणीय है कि राजा मनु और उसकी रानी शतरूपा; प्रह्लाद और ध्रुव, ये सब तो व्यक्तोपासक ही थे और इनको भी तो व्यक्तरूप भगवान् का दर्शन बड़े-बड़े कष्टों को सहन करके ही प्राप्त हुआ था। मनु-शतरूपा ने व्यक्त रूप के दर्शन के लिये कठोर तप करने का जो महान् कष्ट उठाया, सो विदित ही है। वाञ्छित व्यक्त दर्शन के बाद स्वर्ग-सुख भोग कर, नरलोक में जन्म पाकर राजा दशरथ और रानी कौशल्या बन कर भी उन्होंने कष्टों का भोग भोगा, यह भी अविदित नहीं है। प्रह्लाद जी व्यक्त उपासना में लगे रहे। इसी कारण उन्होंने अपने पिता से अनेकानेक घोर कष्ट पाये, यह भी लोग जानते ही हैं। उन सब कष्टों को पाये बिना प्रह्लाद ने नरसिंह भगवान् का दर्शन नहीं पाया। और भक्त ध्रुव को घोर जंगल में एकान्त रह कर तप तथा प्राणायाम-अभ्यास करने का कष्ट उठाना पड़ा। श्रीमद्भागवत में यह कथा है ही।

फिर यह बात कि व्यक्तोपासना में कष्ट नहीं होता है वा इसमें भी कष्ट होता है—इसे विचारवान समझ लें। केवल रोचकता के लिये ही व्यक्तोपासना के पक्ष में यह कहा जाता है कि यह कष्ट-साध्य नहीं है। राजा मनु ने तो भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा सूर्य्य को दिया हुआ श्रीमद्भगवद्गीता का ज्ञान सूर्य्य से पाया था। गीताज्ञान के इस इतिहास से तो यह मानना पड़ता है कि व्यक्तोपासना में मनु-शतरूपा वाला साधन अमित कष्टमय कठोर है।*

गीता के इस अध्याय में व्यक्तोपासना के लिये कहा गया कि व्यक्त रूप भगवान् में परायण अर्थात् प्रवृत वा लगा हुआ रहना, सब कुछ उन्हें समर्पण करना, एकनिष्ठा से उनके रूप का ध्यान करना और मन-बुद्धि को उनमें लगाये रहना – ये सब साधन हैं। परन्तु अव्यक्तोपासना के क्या-क्या साधन हैं, इसका वर्णन कुछ भी नहीं है। यदि कहा जाय कि पिछले अध्यायों में जो सांख्ययोग, प्राणायामयोग और ध्यानयोग बतलाये गये हैं — वे सब अव्यक्त उपासना के साधन हैं, तो मानना पड़ता है कि ये साधन बतला दिये गये हैं। पिछले अध्यायों में तो इस अध्याय में बतलाये गये व्यक्तोपासना के भी सब साधन कहे ही गये हैं, इस अध्याय में वे मात्र समासरूप में दुहराये गये हैं। अव्यक्तोपासना के साधनों का वर्णन पिछले अध्यायों में हुआ है, ऐसा स्पष्ट रूप से समझ में नहीं आता। हाँ, अव्यक्त स्वरूप का वर्णन स्पष्ट रूप से अवश्य हुआ है।

प्राणायाम और ध्यानयोग अव्यक्तोपासना हैं, इसका बोध

---

* मनु-शतरूपा के अमित कष्टमय कठोर साधन का वर्णन रामचरितमानस-बालकाण्ड के उस स्थान पर पढ़िये, जहाँ भगवान् के अवतारों के कारण बतलाये गये हैं।

कैसे हो ? पूरक, कुम्भक और रेचक-द्वारा प्राणवायु की कसरत (प्राणायाम) में प्राणवायु के व्यक्त होने के कारण और ध्यानयोग में ध्यान का लक्ष्य भी व्यक्त होने के कारण व्यक्तोपासना ही तो है। और इन दोनों साधनों में जप-विधि भी तो है। ये व्यक्तोपासनाएँ नहीं कहला कर अव्यक्तोपासनाएँ कहलावें, इसका कोई कारण नहीं है। कहते हैं कि सांख्य और आध्यात्मिक विचार से सत्य, असत्य, आत्मा, ब्रह्म और माया के पूर्ण निर्णयात्मक ज्ञान में मन और बुद्धि को लगा कर आत्म-तत्त्व में विचार-द्वारा संलग्न, निरत या परायण रहने को अव्यक्तोपासना कहते हैं, क्योंकि आत्मा अव्यक्त है। बुद्धि-विचार द्वारा अव्यक्त तत्त्व की स्थिति का निर्णय कर सकना तो असम्भव है, परन्तु बुद्धि से उसकी पहचान नहीं हो सकती है, क्योंकि गीता, उपनिषद्, भारती सन्तवाणी और सब आध्यात्मिक ग्रन्थ इस बात को दृढ़ता से बतलाते हैं कि आत्म-ब्रह्मतत्त्व और परमात्म-स्वरूप, मन और बुद्धि से परे हैं। तब उपर्युक्त अव्यक्तोपासना —जिसकी सीमा बुद्धि तक ही है—अत्यन्त अपूर्ण है, ऐसा कहना अयुक्त नहीं है। यदि इसको अयुक्त और अपूर्ण नहीं मान कर कोई इसी उपासना में निरत होता है, तो इसके लिये विशेष विद्योपार्जन और केवल विचार-द्वारा मन और बुद्धि पर पूर्ण नियन्त्रण रखने का घोर प्रयास अवश्य ही कष्टमय तपश्चर्या है। इसीलिये अव्यक्त उपासना को अधिक कष्टसाध्य कहा जाय, तो ठीक ही है। परन्तु इतना होने पर भी इस तरह की अव्यक्तोपासना अपूर्ण ही कही जायगी। गीता के इस अध्याय में अव्यक्तोपासना को अधिक कष्टसाध्य कहा गया है। इससे यह जानना युक्तियुक्त है कि गीता कहती है कि व्यक्तोपासना में जितना कष्ट है, उससे अधिक कष्ट अव्यक्तोपासना में है। यह नहीं कि व्यक्तोपासना में कुछ कष्ट है ही नहीं। गीता केवल

व्यक्त भाव‡ के ज्ञान वालों को 'मूढ़' की संज्ञा देती है, इसलिये इस संज्ञा से छुटकारा तभी मिल सकता है, जब परमात्मा के अव्यक्त भाव का केवल बौद्धिक ज्ञान ही नहीं, बल्कि समाधि में प्राप्त इसका अनुभवसिद्ध पूर्ण प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त किया जाय।

गीता में परमात्म-स्वरूप को अज, अविनाशी, अनन्त और अव्यक्त स्थान-स्थान पर बारम्बार कहा गया है। परन्तु परमात्मा के स्थूल-व्यक्त विभूतिरूप सगुण साकार से उपासना आरम्भ करने के प्रेममय भाव की श्रेष्ठता गीताग्रन्थ में विशेष रूप से कही गई है। इसके अतिरिक्त इसमें उस परमात्मा के अणु से अणु (बिन्दु) रूप की तथा ॐकार शब्दब्रह्म की उपासनायें भी पिछले अध्यायों में कही गई हैं। जैसे नवजात अज्ञ शिशु को रूप और शब्द को देखने और सुनने की शक्ति रहने पर भी उनकी कोई पहचान उसे नहीं होती है, वे उसके लिये अव्यक्त से ही रहते हैं—उसी भाँति जो भक्ति की विधि की जानकारी और उसके साधन में निरा शिशु है, उसके लिये सूक्ष्म बिन्दु और नाद अव्यक्त ही रहते हैं। परन्तु साधन-विधि के जानकार साधन-शील के लिये वे व्यक्त रहते हैं। स्थूल और सगुण-साकार रूप तो व्यक्त है ही; बिन्दु सूक्ष्म सगुण साकार रूप है और अन्तर्नाद अरूप सगुण† है और अरूप निर्गुण भी।

---

‡"मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी।
स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते ॥३२॥"

(श्रीशंकराचार्य्यजी महाराज कृत 'विवेक चूड़ामणि')

अर्थ—मुक्ति की कारणरूप सामग्री में भक्ति ही सबसे बढ़ कर है और अपने वास्तविक स्वरूप का अनुसन्धान करना ही 'भक्ति' कहलाती है। आत्म-स्वरूप ही वास्तविक स्वरूप है और यह अव्यक्त है।

† सगुण और निर्गुण नादों के बोध के हेतु "सत्संगयोग" भाग ४ पढ़िये।

साधनशील को एक के बाद दूसरा और दूसरे के बाद तीसरा क्रमशः व्यक्त होता जाता है। ऐसा साधक एक व्यक्त के बाद दूसरे व्यक्त को पाता हुआ, व्यक्त ही व्यक्त की उपासना करता हुआ, माया के स्थूल, सूक्ष्म और कारण आवरणों को टपता हुआ शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरण से छूट कर अन्त में अपने को कैवल्य दशा में लाकर निज से—चेतन आत्मा से या अपने तईं से परमात्मा पुरुषोत्तम के सत्-असत् क्षर-अक्षर, सगुण और निर्गुण से परे, मायातीत, अव्यक्त, निराकार स्वरूप को प्राप्त कर भव-सिन्धु को तर, नित्यानन्द को प्राप्त कर लेता है। यह है भक्ति-योग का सम्पूर्ण रहस्य और उसका पूरा रूप।

इस सम्बन्ध में महात्मा गाँधी और श्री विनोबा भावे के विचार क्रमशः ये हैं—"साकार के उस पार निराकार अचिन्त्य स्वरूप है।" और "सगुण पहले तथा उसके बाद निर्गुण को सीढ़ी आनी ही चाहिये।"

इन दोनों महात्माओं के कथनानुकूल पदार्थ की प्रत्यक्ष प्राप्ति, राजविद्या तथा राजगुह्य वा अव्यक्तोपासना से कम कष्टसाध्य भक्तियोग के द्वारा कम हो जाती है और व्यक्तोपासना की युक्ति-द्वारा पहले सगुण फिर निर्गुण, तत्पश्चात् भगवद्गीता के अचिन्त्य, क्षराक्षर-पर (सगुण-निर्गुण के परे) पुरुषोत्तम के पाने की राजविद्या और राजगुह्य का पूरा-पूरा रूप क्या है, कैसा है—यह बुद्धिमान् ऊपर किये हुए विवेचन से समझ सकते हैं।

इस अध्याय में स्थूल-सगुण-साकार-व्यक्त रूप का ध्यान करने को कहा गया है। ध्यानयोग कैसे किया जाय, यह तो छठे अध्याय में लिखित है ही। इस ध्यान के समय "हाथ बेकार, पाँव बेकार, आँखें बेकार-सब इन्द्रियाँ कर्म्मशून्य ही रहती हैं।" पुनः इसमें "जीभ बन्द, कान बन्द, हाथ-पैर बन्द" उसी तरह,

जिस तरह से निर्गुण ध्यान में। यह कहा जाता है कि "साधक से ये सब बन्दी-प्रकार की साधनाएँ (अर्थात् सब इन्द्रियों को कर्म्मशून्य रखना) नहीं सध सकती हैं।" और यह सारा बन्दी-प्रकार देख कर बेचारा साधक घबड़ा जाता है।" फिर यह भी कहा जाता है कि "सगुण पहले, परन्तु उसके बाद निर्गुण की सीढ़ी आनी ही चाहिये, नहीं तो परिपूर्णता नहीं होगी।" जब भक्ति-योग में परिपूर्णता चाहिये ही और इसके लिये निर्गुण की सीढ़ी पर आना ही है, तो ऊपर लिखित सब इन्द्रियों को कर्म्मशून्य करके रखने का अभ्यास और उपर्युक्त सारा बन्दी-प्रकार का अभ्यासारम्भ सगुण उपासना के द्वारा ही अवश्य करो।

हे साधक ! इसमें घबड़ाओ मत। श्रीमद्भगवद्गीता के इस उपदेश को मत भूलो कि भक्त का 'योगक्षेम' स्वयं भगवान् करते है। साधन में साधक को सहायता देनी और उसके अभ्यास-बल की रक्षा करनी भी योगक्षेम के ही अन्दर है। गोस्वामी तुलसी दास जी ने भी अपनी 'विनयपत्रिका' ग्रन्थ में कहा है कि—

"जौं तेहि पंथ चले मन लाई। तो हरि काहे न होंहि सहाई।"

क्या भक्तियोग के किसी भी साधक को चाहिये कि भगवान् की कृपा—भरोसे का विश्वास नहीं करे ? ऐसा कदापि नहीं चाहिये। स्थूल सगुण का ध्यान भगवद्गीता की बताई रीति से, एकान्त मे स्थिर एवं तन कर अर्थात् शरीर, मस्तक और ग्रीवा को सीधा रखते हुए बैठ कर करो तो मन के चक्र का घूमना भी अवश्य ही बन्द होगा। इसमें मन को ऐसा अन्तर्मुख और संलग्न किया जा सकता है, जैसा सुतीक्ष्ण मुनि स्थूल, सगुण, साकार का ध्यान करते हुए कर सके थे। वनवास-काल में श्रीराम उस वन में पहुँचे, जहाँ सुतीक्ष्ण मुनि का आश्रम था।

उन्होंने देखा कि मुनि ध्यान में तल्लीन हैं। स्वयं श्रीराम ने उनको बाहर से जगाना चाहा, परन्तु जब उनका ध्यान नहीं टूटा तब श्रीराम ने अपने योगबल से उनके अभ्यन्तर के उस ध्येयरूप को—जिसमें कि वे उस समय ध्यानावस्थित थे, बदल दिया। तब वे जगे। (तुलसीकृत रामायण)। इस कथा से स्पष्ट है कि सगुण साकार के ध्यान में भी साधक बाहर से सब इन्द्रियों को कर्म्मशून्य और जीभ, कान आदि का सारा बन्दी-प्रकार का साधन करता है। और केवल निर्गुण में ही नहीं, सगुण उपसना में भी प्रथम से ही सब इन्द्रियों को कर्म्मशून्य करने का तथा उपर्युक्त सारा बन्दी-प्रकार का साधन अवश्य करना चाहिये। नहीं तो निर्गुण की सीढ़ी पर पहुँच कैसे होगी और कैसे परिपूर्णता आयेगी?

भक्त को चाहिये कि भगवन्त में मन को लगाये रहे। यदि वह योगसाधन के बिना ही इसका अभ्यास करने लगे और न कर सके, तो वह योगाभ्यास-साधन से उन्हें पाने का यत्न करे। यदि वह इसमें भी नहीं सके, तो अपना प्रत्येक कर्म्म भगवान् को समर्पित करे। यदि इसमें भी वह असमर्थ हो, तो यत्न करके उसे सब कर्म्मों का फल त्यागना चाहिये। सब कर्म्म भगवान् को चढ़ा देना भी कर्म्म और उसके फल का त्याग ही तो है। कर्म्मफल-त्याग क्या उपर्युक्त सब कामों से आसान है? इसमें भी मन पर पूरा नियन्त्रण रखना पड़ेगा, नहीं तो सन्त कबीर साहब की इस उक्ति के अनुकूल फल पाना होगा।

"तन मन दिया तो भल किया, सिर का जासी भार।
कबहूँ कहै कि मैं दिया, घनी सहैगा मार।"

मन पर पूरा नियन्त्रण रखने की शक्ति योगाभ्यास के बिना असम्भव है। भगवन्त में सदा मन लगाये रहना भी इसके बिना

नहीं हो सकेगा। देखना चाहिये कि गीता में किस योगाभ्यास की ओर अधिक प्रेरण है—प्राणायाम-योग की ओर वा ध्यान-योग की ओर ? कैसे स्थान पर, क्या-क्या बिछा कर, शरीर को किस तरह रख कर और किस विधि से प्राणायाम करना चाहिये—ये बातें प्राणायाम के वर्णन में उतनी विशेष रूप से नहीं हैं, जितनी कि ध्यानयोग में हैं। गीता में प्राणायाम-योग नामक कोई एक विशेष अध्याय भी नहीं है, परन्तु 'ध्यानयोग' नामक एक विशेष अध्याय तो गीता में है ही। अतएव यह मानने में संशय नहीं रह जाता कि गीता ध्यान-योगाभ्यास करने की ही अधिक प्रेरणा देती है। इस सम्बन्ध में और एक बात जाननी चाहिये कि गीता में एक अध्याय 'राजविद्या-राजगुह्य' का भी है। इस अध्याय के अनुकूल तो निरापद, सरल, कुशल-साध्य और रहस्यमय साधन होना चाहिये। प्राणायाम ऐसा नहीं माना जा सकता है। शाण्डिल्योपनिषद् में है—

> "यथा सिंहो गजोव्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैः शनैः।
> तथैव सेवितो वायुरन्यथा हन्ति साधकम् ॥"

अर्थ—जैसे सिंह, हाथी और बाघ धीरे-धीरे काबू में आते हैं, वैसे प्राणायाम (अर्थात् वायु को अभ्यास कर वश में करना) भी किया जाता है। प्रकारान्तर होने से वह अभ्यासी को मार डालता है।

ध्यानयोग के विषय में ऐसी आपदा की बात नहीं कही गई है। गीता में 'भक्तियोग' बहुत ही मधुर साधन है, परन्तु ध्यान-योग को इससे अलग रखा जाय, तो इसका सार ही निकल जायगा। भक्ति में प्रेम की प्रधानता है। प्रेम में ध्यान अनिवार्य रूप से रहता है। ध्यानयोग वाले अध्याय में ध्यानयोग की विधि से ईश्वर में परायण रहते हुए, साधक को ध्यानाभ्यास करने

के लिये बैठने की आज्ञा है। इसमें और विशेष बात यह भी जाननी चाहिये कि ध्यान-योगयुक्त भक्तियोग में, यदि केवल स्थूल-सगुण साकार ईश्वर-रूप को ही ग्रहण कर रखने का आग्रह रहे—इसके अतिरिक्त उसके अणोरणीयाम् रूप और शब्दब्रह्म-रूप को ग्रहण करने का आग्रह नहीं हो तथा ध्यानयोग में इनके ग्रहण की युक्ति या भेद जानने और उसके द्वारा अभ्यास करने में अवहेलना हो—तो ऐसा भक्तियोग 'राजविद्या और राजगुह्य' (गीता के अत्यन्त आकर्षक विषय)से हीन रहकर, उसके साधन-फल को न पाकर, परमात्म-स्वरूप को नहीं प्राप्त कर, भक्ति की चरम सीमा तक नहीं पहुँच, परम मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकेगा। इसलिये भी गीता की विशेष रुचि ध्यान-योगाभ्यास कराने की ही है। राजविद्या और राजगुह्य ही तो गीता के परम आकर्षक विषय हैं—इसके अनुकूल ध्यानयोग ही है, प्राणायाम नहीं।

परन्तु गीता प्राणायाम करने से मना भी नहीं करती है। जिससे यह अभ्यास हो सके, वह करे; परन्तु गीता ध्यान-योगाभ्यास ही विशेष रूप से कराना चाहती है। ध्यान-योगाभ्यास से जब मन पर पूर्ण नियन्त्रण रखने की शक्ति होगी, तब भगवान् में मन लगाये रखने, उनको प्रत्येक कर्म अर्पण करने और कर्मफल त्याग करने इत्यादि के (जिस-जिस प्रकार अपने मन को कोई रखना चाहेगा, उस-उस प्रकार के) साधन में उसे वह दृढ़ता से रख सकेगा। भक्तियोग में जिस-जिस प्रकार के कामों की विधियाँ गीता में दी गई हैं, उनमें से साधक अपने लिये जिसे चुने, उसमें विचार-द्वारा अपने मन को लगाये रखने का यत्न करे और साथ ही साथ नित्य-प्रति संध्याओं के समय एकान्त में बैठ-बैठ कर भी ईश्वर-प्राप्ति के लिये प्रेम-सहित ध्यान-योगाभ्यास अवश्य करे। गीता का ध्यानयोग ही वह योग है, जिसका अभ्यास नित्यप्रति संध्याओं के समय अवश्य करना चाहिये। गीता की विशेष रुचि ऐसी ही है।

उपर्युक्त बातें इस अध्याय के श्लोक १२ से ही विदित होती है। इसमें कहा गया है कि ज्ञान से ध्यान विशेष है, परन्तु यह नहीं कि ज्ञान से प्राणायाम विशेष हैं। बारहवें श्लोक में कहा गया है कि अभ्यास से ज्ञान श्रेयस्कर है; ज्ञान से ध्यान विशेष है और ध्यान से कर्म्म-फल-त्याग विशेष है। त्याग से तुरत ही शान्ति मिल जाती है। किसी विद्या को सीखने की क्रिया को बारम्बार करने की आदत लगाने को 'अभ्यास' कहते हैं। ज्ञान, ध्यान और कर्म्म-फल-त्याग के अतिरिक्त गीता में प्राणायाम आदि और जितने साधन कहे गए हैं उन सबके अभ्यास का तात्पर्य इस अध्याय के बारहवें श्लोक के 'अभ्यास' शब्द से बिदित होता है। क्योंकि ज्ञान, ध्यान और कर्मफल-त्याग; इन तीनों कर्म्मों को तो इस श्लोक में क्रियात्मक रूप में लाने की विधि-सी जानी जाती है। इनके अभ्यास तो इनके साथ ही रह जाते हैं। तब इनके अतिरिक्त उपर्युक्त और सब अभ्यास ही बच जाते हैं। इसलिये उन बचे हुए प्राणायाम आदि के अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है, यह जानने में आता है। और जबकि ज्ञान से ध्यान को विशेष कहा गया है; तब प्राणायाम-योगाभ्यास से ध्यान-योगाभ्यास गीता के अनुकूल विशेष मानने योग्य हो ही जाता है। गीता के भक्ति-योग-अध्याय में ध्यान और कर्म्मफल-त्याग की बड़ाई की गई है; अतएव गीता के 'भक्ति-योग' में इन तीनों का अभीष्ट स्थान है, ऐसा जानना हीं समुचित है। यदि इन तीनों को वा इनमें से किसी एक को 'भक्ति-योग' से हटाया जाय, तो 'भक्ति-योग' स्थितिशून्य हो जायगा। ज्ञान के बिना ध्यान और ध्यान के बिना ज्ञान अभीष्ट फलप्रद (मोक्ष-फल-प्रद) नहीं हो सकते। दोनों का अभ्यास अनिवार्य रूप से करना ही होगा। इसकी पुष्टि के विषय में योग-शिखोपनिषद् तथा योग-तत्त्वोपनिषद् के उद्धरणों को पृष्ठ ६ की पाद-टिप्पणी में पढ़कर जानिये। ध्याना-

भ्यास-द्वारा मन पर पूर्णाधिकार प्राप्त किये बिना तथा ध्याना-भ्यास में पूर्णता पाकर ज्ञान में पूर्ण हुए बिना, कर्म्मफल-त्याग में अचूक और दृढ़ भी कोई नहीं बन सकता। इन तीनों का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन तीनों के सहित भक्ति-योग के साधन के साथ-साथ कर्म्मयोग का साधन करता हुआ वह सिद्ध हो जायगा। जैसे-जैसे प्रेमी भक्त ईश्वर-सम्बन्धी ज्ञान-ध्यान में तथा तत्सम्बन्धी ज्ञान और ध्यानाभ्यास में बढ़ता हुआ जाकर अन्त में पूर्ण होगा, वैसे-वैसे वह कर्म्म फल त्याग में भूलों को छोड़ता हुआ अन्त में कर्म्म-फल-त्याग में पूर्ण होकर, कर्म्मयोग में सिद्ध होगा। ज्ञान, ध्यान तथा ईश्वर-प्रेम की अवहेलना करके केवल कर्म्मफल त्यागने का गौरव अनुचित ही नहीं, बल्कि वह "आप गये और घालहिं आनहिं" के नतीजे पर पहुँचा देगा, यह सुनिश्चित है। ध्यान-योगाभ्यास करने का सिद्धान्त और उस अभ्यास की ओर प्रेरणा तथा उसमे मिलने वाले विघ्नात्मक प्रलोभनों का बचाव, पठन-पाठन और मनन द्वारा प्राप्त ज्ञान पर निर्भर है एवं अनुभूतियुक्त ज्ञान में बढ़ाव और उसके अपरोक्ष रूप की पूर्णता; ध्यान योग' में वृद्धि और उसकी परिपूर्णता पर निर्भर है। भगवान् बुद्ध के धम्मपद नाम्नी पुस्तिका के 'भिक्खुवग्गो' में है—

> "नत्थि झानं अपञ्ञस्स पञ्ञा नत्थि अझायतो।
> यम्हि झानञ्च पञ्ञा च स वे निब्बाण सन्तिके ॥१३॥"

अर्थ—प्रज्ञाविहीन (पुरुष) को ध्यान नहीं (होता) है, ध्यान (एकाग्रता) न करने वाले को प्रज्ञा नहीं हो सकती। जिसमें ध्यान और प्रज्ञा (दोनों) हैं; वही निर्वाण के समीप है। १३॥

अतएव ध्यानयोग गीता का निज, परम प्रिय, अत्यन्त उपयोगी और भक्तियोग-साधन का साराधार है।

अब इस अध्याय में भक्त के लक्षण और आचारणीय गुणों का वर्णन ही बच रहा है। वह यह है कि प्राणी-मात्र के प्रति द्वेष-हीन होना, सबसे मित्रता, सुख-दुःख में समान रहना, क्षमावान् होना, सदा सन्तोषी रहना, योगी होना, दमशील होना, दृढ़ निश्चयी होना, न आप किसी से उद्वेग पाने वाला, न दूसरा उससे उद्वेग पावे, हर्ष, क्रोध, इर्ष्या और भय से मुक्त, इच्छा-रहित, पवित्र, दक्ष (अमूढ़ या सुचतुर), तटस्थ वा निरपेक्ष, अचिन्त्य, संकल्पहीन, आशाहीन, शुभाशुभ-त्यागी; शत्रु-मित्र, मानापमान, शीतोष्ण, सुख-दुःख और स्तुति-निन्दा में समतावान्, स्वल्पभाषी, अनिकेत (अपने रहने के घर में ममत्व नहीं) और स्थिर चित्तवाला होना—भक्त योगी के ये सब गुण और आचरणीय लक्षण हैं।

॥ द्वादश अध्याय समाप्त ॥

अध्याय—१३

अथ क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विभागयोग

इस अध्याय का विषय क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विभागयोग है।

इस अध्याय के आरम्भ में ही कह दिया गया है कि शरीर को 'क्षेत्र' कहते हैं और इसे जो जानता है, उसको तत्त्वज्ञानी लोग 'क्षेत्रज्ञ' कहते हैं। बारहवें अध्याय में भक्तियोग का वर्णन हो चुका है। अब इस तेरहवें अध्याय में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विभाग करके उनके स्वरूपों का पृथक्-पृथक् वर्णन इसलिये किया गया है कि लोग शरीर (क्षेत्र) और शरीरी (क्षेत्रज्ञ) अर्थात् देह और देही को यथार्थतः भिन्न-भिन्न कर जानें—दोनों को एक ही न समझ बैठें और न यह समझें कि देही देह ही है और न ऐसी भूल करें कि देह में देह से भिन्न कुछ अन्य पदार्थ (देही या चेतन जीव) है ही नहीं; तथा लोगों को सुनिश्चित रूप से यह भी पूर्णतया विदित हो जाय कि स्वयं परमात्मा भी विशेषावतार के शरीर (क्षेत्र) में उस व्यक्त दिव्य श्रीविग्रहरूप से भिन्न, अद्भुत और अव्यक्त हैं।

बारहवें अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि अव्यक्तोपासक भी मुझे ही (मामेव) पाते हैं। क्या यहाँ 'मुझे ही' (मामेव) कहकर श्रीभगवान् अपने व्यक्त नर-शरीर को ही बतलाते हैं? यदि इसका उत्तर 'हाँ' हो तो—अव्यक्तोपासक भी व्यक्त रूप को ही पाते हैं—ऐसा कहा जायगा। परन्तु यह उत्तर युक्तियुक्त और जँचने-योग्य नहीं है। भगवान् ने गीता में ऐसा कहीं नहीं कहा है कि मैं केवल व्यक्तरूप ही हूँ, अव्यक्त नहीं। बल्कि अध्याय ७ के श्लोक २४ में स्पष्टरूप से उन्होंने अपने को

अव्यक्त ही बतलाया है और केवल व्यक्त ही कह कर जानने वालों को 'बुद्धिहीन' कहा है। युक्तिसंगत बात तो यही है कि अव्यक्तोपासक अव्यक्त स्वरूप को ही अन्त में प्राप्त करे। अतएव बारहवें अध्याय में श्लोक ४ के 'मामेव' (मुझे ही) से भगवान् ने अपने अव्यक्त स्वरूप को ही व्यक्त किया है, ऐसा जानना चाहिये। अपने इस स्वरूप को भी क्षेत्र से स्पष्टतया भिन्न जनाने की आवश्यकता जानकर ही उन्होंने इस अध्याय में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का विचार कहा है।

यदि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ-विभाग का ज्ञान लोग नहीं जानेंगे, तो केवल व्यक्त क्षेत्र-ज्ञान में पड़े रहेंगे; अव्यक्त स्वरूप को नहीं जान कर अज्ञानता से नहीं छूटेंगे। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विभाग-वर्णन में कहा गया है कि—पाँच स्थूल तत्त्व (मिट्टी, जल, अग्नि, वायु और आकाश), पाँच सूक्ष्म तत्त्व (गंध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द), अहंकार, बुद्धि, प्रकृति, दशेन्द्रियाँ(हाथ, पैर, मुँह गुदा और लिंग—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ और आँख, कान, नासिका, जिह्वा और त्वचा; ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ), मन, चैतन्य संघात, (कहे गये का संघरूप) धृति (धारण करने की शक्ति) और इनके विकार इच्छा, द्वेष सुख और दुःख—इन एकतीस के समूह को संक्षेप में 'क्षेत्र' कहते हैं। इस क्षेत्र के जानने वाले को 'क्षेत्रज्ञ' कहते हैं। गीता भगवती कहती है कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के ज्ञान को ही 'ज्ञान' कहते हैं।

सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ तत्त्व-रूप से परमात्मा ही हैं; यह भगवान् श्रीकृष्ण का मत है।

श्रवण, मनन, निदिध्यासन तथा अनुभव से प्राप्त इस ज्ञान की पूर्णता के लिये मानहीनता, पाखण्डहीनता, अहिंसा, क्षमा, सरलता, गुरु-उपासना, पवित्रता, स्थिरता, अपने ऊपर रोक, इन्द्रियों के विषयों से मन का अलगाव, निरहंकारिता, जन्म, मरण, बुढ़ापा, व्याधि, दुःख और दोषों का सदा स्मरण, पुत्र, स्त्री गृहादि

में मोह तथा ममता का अभाव, प्रिय और अप्रिय में स्थिर समता, अनन्यता से ध्यानयुक्त परमात्मा की एकनिष्ठ भक्ति, एकान्त स्थान का सेवन, जनसमूह में सम्मिलित होने की अरुचि, अध्यात्म-ज्ञान की सत्यता का स्मरण और आत्म-दर्शन—इन सब का सेवन करता हुआ साधक ज्ञान में रहता है। यदि ऐसा नहीं रहता है, तो वह अज्ञान में है। इन सब बातों के सहित भगवान् कृष्ण का यह भी मत है कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के ज्ञान को ही ज्ञान कहते हैं और क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ तत्त्वतः परमात्मा ही हैं। अतएव उपर्युक्त ज्ञानों के अतिरिक्त ज्ञान को अनात्म-ज्ञान कहना अनुचित नहीं है। गीता में यह नहीं कहा गया है कि भगवान् श्रीकृष्ण के दिव्य नररूप वा विराट रूप श्रीविग्रहों वा दिव्यक्षेत्रों में और उनमें व्याप्त आत्मा या क्षेत्रज्ञ में भेद नहीं है।

क्षेत्र को 'व्यक्त' कहा जायगा, परन्तु क्षेत्रज्ञ को व्यक्त नहीं, 'अव्यक्त' कहा जायगा। सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ तत्त्व-रूप से परमात्मा ही हैं, उसे प्रत्यक्ष जानने वाले मोक्ष पाते हैं। वह अनादि परब्रह्म हैं, उसे न सत्* कहा जा सकता है और न असत् ही।

---

*चैतन्य अपरिवर्त्तनशील, गतिशील और कम्पमय पदार्थ है, अतएव सत् परन्तु मर्यादित या ससीम है। यही जीवरूपा परा प्रकृति है। गीता अध्याय ७, श्लोक ५ और महाभारत, शान्तिपर्व, उत्तरार्द्ध, अध्याय १०४, में परा प्रकृति को रूपान्तर-दशा से रहित कहा गया है। जीव को जड़ नहीं माना जा सकता। इसको अक्षर पुरुष कहते हैं। अतएव चैतन्य सत्य है। क्षेत्र के ३१ तत्त्वों में एक चेतना अर्थात् चैतन्य भी है। जड़ असत् है। यही अपरा प्रकृति, क्षर पुरुष है। परमात्मा अक्षर अर्थात् सत् और क्षर अर्थात् असत्; दोनों से उत्तम और परे है। इसलिये उस पुरुषोत्तम परमात्मा को न सत् कह सकते हैं और न असत्। वह अनादि, असीम अर्थात् अमर्य्यादित है, अतएव ध्रुव और अकम्प है। असीम के

परब्रह्म को सब ओर सब इन्द्रियाँ हैं। परन्तु वे स्वरूपतः इन्द्रियों से रहित, अलिप्त और इन्द्रियातीत हैं। तात्पर्य यह कि परब्रह्म में सब ओर के सब प्रकार के ज्ञान सदा विद्यमान रहते हैं, वे सर्वव्यापक हैं। वे सब के बाहर और सबके अन्दर सदा विद्यमान रहते हैं। त्रैगुणों में रहते हुए अर्थात् उनका भोक्ता होते हुए भी वे उन गुणों से रहित हैं, अर्थात् निर्गुण† हैं। वे ध्रुव वा स्थिर होते हुए भी गतिमान हैं। (परा प्रकृति में व्यापक रहने के कारण ही गतिमान् सा दीखता है और परा प्रकृति में व्याप्त—अर्थात् उस प्रकृति के सहित रहने के कारण उसे राम या सब में रमण करने वाला भी कहते हैं; यही सच्चिदानन्द‡ है)। यह ब्रह्म सबसे दूर और सबसे अधिक निकट भी है।

इस सम्बन्ध में कबीर के ये शब्द हैं—

"धूप अखंडित व्यापी चैतन्यश्चैतन्य।
ऊंचे नीचे आगे पीछे दाहिन बायें अनन्य॥
बड़ा तें बड़ा छोट तें छोटा मींहीं तें सब लेखा।
सबके मध्य निरन्तर साईं दृष्टि दृष्टि सों देखा॥"

बाहर अवकाश नहीं। जिसके बाहर अवकाश नहीं, उसमें कम्प अथवा गति नहीं। असीम एक ही हो सकता है। चैतन्य स्वाभाविक ही गतिशील और कम्पनमय है। यह ससीम है।

† अपरा-जड़ प्रकृति (रज, सत् और तम) त्रैगुणमयी है। परा प्रकृति त्रैगुण-रहित है। परब्रह्म पुरुषोत्तम को दोनों प्रकृतियों से परे वा उत्तम होने के कारण निर्गुण और सगुण दोनों के परे भी कहा जाता है।

‡ उस सच्चिदानन्द के यथार्थ स्वरूप को बाल गंगाधर तिलक जी ने इस तरह समझाया है—"प्रकृति और पुरुष के परे भी जाकर उपनिषत्कारों ने यह सिद्धान्त स्थापित किया है कि सच्चिदानन्द ब्रह्म से भी श्रेष्ठ श्रेणी का 'निर्गुण ब्रह्म' ही जगत् का मूल है।"

"है सब में सब ही ते न्यारा,..............................
सब के निकट दूर सब ही ते.............................॥"

"सखिया वा घर सबसे न्यारा, जहँ पूरन पुरुष हमारा ।
जहँ नहिं सुख-दुख साँच झूठ नहिं, पाप न पुन्न पसारा ।
नहिं निर्गुण नहिं सगुन भाई, नहीं सूक्ष्म स्थूलं ।
नहिं अच्छर नहिं अविगत भाई, ये सब जग के मूलं ॥"

सब अनेकताओं में वह पुरुषोत्तम परब्रह्म बँटा हुआ-सा दीखता है, परन्तु सब अनेकताओं में रहकर भी वह अविभक्त, अखण्ड और एक ही एक रहता है । वह प्राणियों का कर्त्ता,पालक और नाशक है । वही अपरोक्षता से जानने-योग्य है, वह अंधकार से परे है और ज्योति की भी ज्योति—अर्थात् ज्योति का भी प्रकाशक है । गीताजी कहती हैं कि इस अध्याय में वर्णित क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, ज्ञाता और ज्ञेय को जाननेवाला भक्त परमात्मा के भाव को(अर्थात् व्यक्त और अव्यक्त भाव को) पाने योग्य बनता है ।

प्रकृति और पुरुष (अर्थात् जड़ और चेतन)दोनों अनादि हैं । इसको इस प्रकार भी कह सकते हैं कि दोनों प्रकृतियाँ—त्रैगुणमयी अपरा और निर्गुण परा—वा क्षर पुरुष और अक्षर पुरुष—वा असत् और सत्—अनादि† हैं । विकार और गुण प्रकृति से उत्पन्न होते हैं । कार्य और कारण का हेतु (कारण)प्रकृति (महाकारण) है । कार्य (अर्थात् अनेकतामय सृष्टि) का कारण साम्यावस्था-धारिणी मूल प्रकृति का कम्पित भाग-रूप'विकृति'प्रकृति है और इस कारण-रूप विकृति प्रकृति का हेतु या कारण साम्यावस्था-धारिणी त्रैगुणमयी मूल प्रकृति है। इसी मूल प्रकृति को'महाकारण'

---

† इनके अनादित्व के विषय में गीता अध्याय १४ श्लोक ३ के वर्णन के स्थान पर पढ़िये ।

कह सकेंगे। जगत् का यह उपादान कारण है। पुरुष—चेतन-जीव, प्रकृति से उत्पन्न होने वाले गुणों को भोगता है; अतएव यह सुख-दुख के भोग में कारण है। यही भोग और गुण का सङ्ग जीव के अच्छी-बुरी योनियों में जन्म लेने का कारण होता है।

शरीरस्थ जीव अकेला ही शरीर में नहीं रहता है। परमात्मा पुरुषोत्तम भी उसके साथ ही साथ शरीर में इस प्रकार पूर्णतः व्याप्त रहता है, जिस प्रकार वायुपूर्ण किसी घट में आकाश। परा प्रकृति वा चेतन-जीव-पुरुष, पुरुषोत्तम परमात्मा से स्थूल दशा में है और स्थूल में सूक्ष्म स्वाभाविक ही व्याप्त रहता है* त्रैगुणमयी प्रकृति को तथा पुरुष को उपर्युक्त प्रकार से अपरोक्ष ज्ञान-द्वारा जो जानता है, वह कर्त्तव्य कर्म्मों को करता रहकर भी फिर जन्म नहीं पाता है।

कोई ध्यान† द्वारा, कोई सांख्य-योग† अर्थात् सांख्य-शास्त्र से निरूपित ज्ञान में मन-बुद्धि को डुबाये रख कर और कोई कर्म्म-योग† द्वारा योगस्थ रह कर अर्थात् कर्त्तव्य कर्म्मों को योगस्थ रह कर करता हुआ आत्मा-द्वारा आत्मा को देखता है; तात्पर्य यह कि चेतन आत्मा-द्वारा परमात्मा का दर्शन पाता है।

जो शास्त्र पढ़कर उपर्युक्त विषयों का ज्ञान नहीं रखते हैं, वे दूसरों से सुनकर श्रद्धा से परमात्मा का भजन करके संसार से

---

* अज्ञ का कहना है कि किसी गिलास में एक ही बार गिलास भर पानी और उतनी ही मदिरा नहीं अंट सकती, अतएव ईश्वर नहीं केवल जीव ही देह में है।

† ये तीनों पृथक्-पृथक साधन जाने जाते हैं, परन्तु तीनों आपस में मिले-जुले रहते हैं और श्रद्धालु भक्त भी अपने भक्ति-साधन में इन तीनों से युक्त हो जाता है। इनके वर्णन के पृथक-पृथक् अध्यायों में ये बातें समझा दी गई हैं।

तर जाते हैं। परमात्मा-ईश्वर को सर्वत्र समभाव से रहता हुआ जो मनुष्य देखता है, वह अपघाती नहीं बनता और परम गति पाता है।

सब कर्म्मों को करने वाली प्रकृति है और आत्मा अकर्त्ता है। जो यह देखता है, वही यथार्थ देखता है*। जीवों के भिन्नत्व में जब एकत्व दीखने लगे और सब फैलाव उसी एक में होने का बोध जब हो, तब परमात्मा—ब्रह्म की प्राप्ति होती है।

जैसे सर्वव्यापी आकाश को किसी का लेप नहीं लगता, वैसे ही सर्वव्यापी आत्मा को भी। जैसे एक ही सूर्य्य सर्व जगत को प्रकाशित करता है, वैसे ही क्षेत्रज्ञ सब क्षेत्रों को प्रकाशित करता है अर्थात् सचेतन करके रखता है। ज्ञान-चक्षु (आत्म-दृष्टि) द्वारा क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का भेद और जीव-आत्मा की मुक्ति की विधि को जो जानता है, (विधि अनुकूल साधन करता है,) वह ब्रह्म—परमात्मा को पाता है।

॥ त्रयोदश अध्याय समाप्त ॥

---

*ऐसा दर्शन केवल बौद्धिक या परोक्ष नहीं, बल्कि अपरोक्ष अर्थात् प्रत्यक्ष होना चाहिये। ऐसा दर्शन तभी हो सकता है, जब चेतन आत्मा से परमात्मा का दर्शन हो।

अध्याय—१४

अथ गुणत्रय विभागयोग

इस अध्याय का विषय गुणत्रय विभागयोग है।

इससे पहले के अध्याय में त्रैगुणात्मिका प्रकृति का कुछ परिचय कराने के अनन्तर त्रयगुण विभाग का भी कथन होना ही चाहिये। इस अध्याय में उसी त्रैगुण-विभाग का तथा त्रैगुणातीत का वर्णन हुआ है। जिस उत्तम ज्ञान का अनुभव (साक्षात् होने पर का ज्ञान) पाकर मुनिगण इस लोक से परम सिद्धि पा गए हैं, उसी ज्ञान का वर्णन यहाँ किया जाता है। इस ज्ञान का सहारा लेकर परमात्मा से एकरूपता पाये हुए लोग सृष्टि की उत्पत्ति-काल में भी जन्म नहीं लेते हैं और प्रलय की व्यथा भी नहीं भोगते हैं, अर्थात् जन्म-मरण से सदा का मोक्ष पा लेते हैं।

महद्ब्रह्म* अर्थात् प्रकृति, परमात्मा की अधीनस्थ योनि (उत्पत्ति-स्थान) है। उसी से उनके द्वारा सारी सृष्टि उपजती है। प्रकृति-स्थित त्रयगुण अनाशी आत्मा को देह के साथ सम्बन्धित

---

* यहां ब्रह्म का अर्थ प्रकृति है। अध्याय ३ के श्लोक १५ में कहा गया है कर्म्म 'ब्रह्म' से उत्पन्न होता है। यहां 'ब्रह्म' का अर्थ—लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक महाशय जी और महात्मा गांधी जी के मतानुकूल—प्रकृति ही है।

यही विचार पुनः अध्याय १३ के श्लोक २६ में भी बताया गया है। वहाँ कहा गया है कि यथार्थतः प्रकृति ही सर्वत्र कर्म्म करती है।

कतिपय टीकाकार अध्याय ३ के श्लोक के 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ वेद लगा कर कहते हैं कि कर्म्म वेद से उत्पन्न हुआ है।

रखता है। सत्त्वगुण ज्ञान के साथ बांधता है, रजोगुण विषय-अनुरागी बनाता है, इससे तृष्णा और आसक्ति उपजती है और वह प्राणी को कर्म्म से बांधता है। तमोगुण अज्ञान,आलस,निद्रा उपजाता है और मोह में डालता है। सत्त्वगुण सुख में और रजोगुण कर्म्म में आसक्ति उत्पन्न करता है। तमोगुण ज्ञान को ढक

यहां सोचने की बात यह है कि वेद में कर्त्तव्याकर्त्तव्य की मीमांसा तथा विधि एवं कर्त्तव्य कर्म्म करने और निषिद्ध तथा अकर्त्तव्य कर्म्म छोड़ने की आज्ञा होनी चाहिये—न कि कर्म्म की उत्पत्ति ही वेद से होनी चाहिये।

इसीलिये तुलसीदास जी ने कहा है—

"गनि गुन दोष वेद बिलगाये।

(तुलसीकृत रामायण)

उपर्युक्त बातों पर विचार कर मैंने अध्याय ३ श्लोक १५ के 'ब्रह्म' का अर्थ प्रकृति ही ठीक माना है। इस श्लोक में यह भी कहा गया है कि ब्रह्म की उत्पत्ति अक्षर अर्थात् अनाशी परमात्मा से हुई है। अब मैं निर्णयात्मक रूप से इस सिद्धान्त पर पहुंचता हूं कि प्रकृति परमात्मा से उपजी है। परन्तु प्रकृति के उपजने के पूर्व मायामय देश और काल नहीं थे,क्योंकि प्रकृति मे ही देश और काल बनते हैं। अतएव प्रकृति उपर्युक्त देश और काल में नहीं उपजी। इसीलिये देश और काल की दृष्टि से प्रकृति अनादि है, परन्तु परमात्मा-सदृश अज यह नहीं है। निचोड़ यह कि प्रकृति केवल देश-काल-ज्ञान से अनादि है और उत्पत्ति-ज्ञान से सादि है। इसका आदि परमात्मा में है और परमात्मा देशकालातीत है।

और सन्त सुन्दर दासजी कहते हैं—

ब्रह्म तें पुरुष अरु प्रकृति प्रगट भई,
प्रकृतितें महतत्त्व पुनि अहंकार है॥
अहंकार तें तीन गुण सत्व, रज, तम,
तमहू तें महाभूत विषय पसार है॥

कर कर्त्तव्य-मूढ़ता और विस्मरण उत्पन्न करता है। रजोगुण-और तमोगुण के दबने से सत्त्वगुण की बढ़ती होती है। सत्त्वगुण और तमोगुण के दबने से रजोगुण की बढ़ती होती है। सत्त्वगुण और रजोगुण के दबने से तमोगुण की बढ़ती होती है।

देह और उसके सब द्वारों में जब प्रकाश‡(ब्रह्मज्योति)उत्पन्न हो और ज्ञान की वृद्धि हो तब सत्त्वगुण की वृद्धि हुई है, ऐसा

रजहू तें इन्द्री दश पृथक पृथक भईं,
सत्वहू ते मन आदि देवता विचार है॥
ऐसे अनुक्रम करि, शिष्य सूं कहत गुरु,
'सुन्दर' कहत यह मिथ्या भ्रम-जार है॥७॥

‡ यह प्रकाश सब के अन्दर है ही।

"चन्दा झलकं यहि घट माहीं। अन्धी आंखन सूझै नाहीं।
यहि घट चन्दा यहि घट सूर। यहि घट गाजै अनहद तूर॥"

"चन्द चढ़ा कुल आलम देखै, मैं देखूं भ्रम दूर।
हुआ प्रकाश आश गई दूजी, उगिया निर्मल नूर॥"
(कबीर साहब)

"घट-घट अन्तरि ब्रह्म लुकाइया घटि-घटि जोति सबाई।
बजर कपाट मुकते गुरमती निरभै ताड़ी लाई॥"
(गुरु नानक)

सुषुम्ना में दृष्टि स्थिर रखने से सात्त्विकी वृत्ति रहती है और ज्योति-रूप परमात्मा की विभूति का दर्शन होता है। योगी श्री श्यामाचरण लाहिड़ी महोदय का कथन है—

"वायें इड़ा नाड़ी दक्षिणे पिंगला, रजस्तमो गुणे करितेछे खेला।
मध्ये सत्वगुणे सुषुम्ना विमला, घर-घर तारे साधरे॥"
(योग संगीत)

जानना चाहिये। रजोगुण की वृद्धि में लोभ, संसार में फँसाव, कर्म्मों का आरम्भ और इच्छा का उदय होता है। तमोगुण की वृद्धि में अज्ञान, मन्दता, असावधानी और मोह उत्पन्न होता है। अपने अन्दर सत्त्वगुण की वृद्धि के काल में मृत्यु हो तो ज्ञानियों के उत्तम लोक में गमन होता है। रजोगुण की वृद्धि में मृत्यु हो तो कर्म्मों में आसक्त रहने वालों में जन्म होता है और तमोगुण की वृद्धि-काल में मृत्यु हो तो मूढ़ योनियों में जन्म प्राप्त होता है।

सत्कर्म्म का फल पवित्र और सात्विक होता है। राजसी कर्म्म का फल दुःख होता है और तामसी कर्म्म का फल अज्ञान होता है।

सात्विकता में रहने वाले (सुषुम्ना में वृत्ति रखने वाले) की ऊद्र्ध्वगति (ऊपर) अर्थात् सूक्ष्मता में चढ़ाई) होती है, राजसी मध्य में रहते हैं और तामसी नीचे वा नरक में जाते हैं।

जिसको प्रत्यक्ष दीखने लगता है कि कर्म्म करने वाला गुणों (त्रैगुणमयी प्रकृति)के अतिरिक्त अन्य नहीं है, वह गुणातीत को भी पहचानता और जानता है। और तब वह परमात्मा के भाव को अर्थात् परमात्मा से एकता को प्राप्त करता है—

"ज्यों जल में जल पैठ न निकसे यौं ढुरि मिला जुलाहा।"
(कबीर साहब)

"जल तरंग जिउ जलहि समाइआ।
तिउ जोति संगि जोति मिलाइआ॥"
(गुरु नानक)

"सकल दृश्य निज उदर मेलि सोवइ निद्रा तजि योगी।
सोइ हरिपद अनुभवइ परम सुख, अतिशय द्वैत वियोगी॥

सोक मोह भय हरष दिवस निसि देस काल तहँ नाहीं।
तुलसिदास यहि दसाहीन, संशय निमूल न जाहीं॥"
—गो॰ तुलसीदास (विनय-पत्रिका)

तथा—

"जानत तुम्हहिं तुम्हइ होइ जाई॥"
(रामचरित मानस)

इन पद्यों के लिखने का तात्पर्य यह है कि सन्तों की उक्ति गीता के अनुकूल ही है, ऐसा लोगों के जानने में आवे।

अब आगे इस अध्याय में गीता बतलाती है कि उपर्युक्त परमात्म-भाव को प्राप्त कर देहधारी गुणातीत वा स्थितप्रज्ञ[1] बन जन्म, मृत्यु और बुढ़ापे के दुःखों से छूट जाता है और मोक्ष प्राप्त करता है।

॥ चतुर्दश अध्याय समाप्त ॥

---

[1]भगवद्गीता में गुणातीत और स्थितप्रज्ञ के लक्षण एक ही प्रकार के मिलते हैं।

अध्याय—१५

अथ पुरुषोत्तमयोग

इस अध्याय में पुरुषोत्तम-योग का वर्णन किया गया है।

इस अध्याय में क्षर (सगुण) और अक्षर (निर्गुण) से परे परमात्मा के उत्तम स्वरूप—'पुरुषोत्तम' का वर्णन है। यद्यपि गुणातीत अर्थात् निर्गुण अक्षर पुरुष भी है, तथापि पुरुषोत्तम इस निर्गुण अक्षर पुरुष से उत्तम है। परमात्मा पुरुषोत्तम और अक्षर पुरुष, दोनों का पृथक् पृथक् ज्ञान लोगों को जनाया जाय, पुरुषोत्तम पुरुष परमात्मा की उच्चता का बोध हो और अक्षर पुरुष की पुरुषोत्तम से निम्नता का बोध हो, इसी हेतु 'पुरुषोत्तमयोग' का वर्णन हुआ, ऐसा बोध होता है।

दोनों निर्गुण हैं सही, फिर भी दोनों में जो भेद है, सो तो समझाया जाना ही चाहिये। पहले कहे गये अध्यायों में यदि किसी को उपर्युक्त विषय का निर्णयात्मक रूप से यथार्थ ज्ञान नहीं हो और वह भ्रमित रहे, तो उसी के भ्रम-निवारणार्थ इस पन्द्रहवें अध्याय में 'पुरुषोत्तम-योग' का कथन किया गया है।

इसमें कथन का आरम्भ इस तरह किया गया है कि ऊपर जड़-वाला, नीचे शाखा-वाला, जिसका पत्ता वेद है, ऐसा एक अश्वत्थ (पीपल) वृक्ष है। इसका जानने वाला ज्ञानी होता है। त्रयगुणों के द्वारा बढ़े हुए इस वृक्ष की शाखाएँ ऊपर-नीचे और दूर-दूर तक सर्वत्र फैली हुई हैं। कर्म्मों का बन्धन करने वाली उसकी जड़ें मनुष्य-लोक में नीचे फैली हुई हैं। यह माया-वृक्ष महा अद्भुत है; यह पूर्णरूप से जाना नहीं जाता है। विवेकी-भक्त

सांसारासक्ति-विहीनता के दृढ़ शस्त्र से इस अश्वत्थ वृक्ष को काट* कर उस पद को खोज निकाले, जहाँ से पुनः कोई संसार में नहीं लौटता है। वह अपना संकल्प उस पुरातन पुरुष (पुरुषोत्तम) की ओर जाने का करे वा प्रार्थना करे कि जिसने इस पुरानी माया को विस्तार कर फैलाया है, मैं उसी आदि-पुरुष की शरण हूँ।

जिसने, मान, मोह और विषयासक्ति के दोषों का त्याग किया है, जो आत्मा में सदा निरत है और जो दुःख-सुख आदि द्वन्द्वों से मुक्त है, वह ज्ञानी अविनाशी पद पाता है। उस पद को सूर्य्य, चन्द्रमा और अग्नि प्रकाशित नहीं करती है। उसमें जाकर फिर कोई नहीं लौटता है, वह परमात्मा का परम धाम है।

जीवलोक में परमात्मा का ही सनातन अंश जीव‡ कहलाता है। प्रकृति से बने मन और इन्द्रियों को लिये हुए जीव शरीर में रहता है और एक देह से दूसरी देह में इन मन-इन्द्रियों को संग लेता जाता है। इसका प्रभुत्व सीमित रूप से केवल उसी देह पर रहता है, जिस देह में यह रहता है। इस हेतु केवल उसी देह का वह अर्थात् जीव, ईश्वर उसी तरह कहा जा सकता है, जिस तरह नर+ईश्वर=नरेश्वर, किसी मनुष्य राजा को कह सकते हैं। इस

---

*वृक्ष के कट जाने पर उसके डाल, पत्ते सब सूख जाते हैं, कहा जा चुका है कि 'वेद' इसके पत्ते हैं।

‡ अध्याय ७ श्लोक ५ में कह आये हैं कि जीव परमात्मा की परा प्रकृति है। अपरा अष्टधा प्रकृति से यह उच्च है अर्थात् चेतन है (अध्याय ७ में पढ़िये)। परमात्म-अंश शरीरस्थ आत्मा, परा प्रकृति—चेतन और मन-इन्द्रियादि अपरा प्रकृति के सम्मिलित रूप को 'जीव' कहते हैं। अनादि, अनन्त, असीम परमात्मा सर्वव्यापी और ध्रुव हैं। उन्हीं की सत्ता पर चेतन ऐसा गतिशील है, जैसे आकाश के आधार पर वायु। शरीर अन्तःकरण के आवरणस्थ परमात्म-अंश उसी तरह अपने अंशी से अभिन्न रहता है, जिस

तरह मनुष्य को ईश्वर कहते हैं, परन्तु उसको परमेश्वर परमात्मा नहीं मानते हैं। इसी दृष्टि से गीता के इस अध्याय के श्लोक ८ में जीव को ईश्वर कहा गया है। और कहा गया है कि यह जीव-रूप ईश्वर जब शरीर धारण करता और छोड़ता है, तब वह मन और इन्द्रियों को उसी तरह साथ ले जाता है, जिस तरह हवा गन्ध को साथ ले जाती है। वह मन इन्द्रियों के द्वारा विषयों का सेवन करता है।

इस जीव को अज्ञानी अपरोक्ष रूप से नहीं जान सकता। परन्तु आत्म-दृष्टि* रूप दिव्य चक्षु वाले ज्ञानीजन जीव को पूर्ण रूप से जानते हैं। यत्न में संलग्न योगी अपने शरीर में रहने वाले को देखते हैं। परन्तु जिनका अन्तःकरण पवित्र नहीं है, वे अज्ञ जन अपने अन्दर यत्न करने पर भी इसे नहीं पहचान सकते हैं। सब सृष्टि में तीन पुरुष हैं—क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम।

सब नाशवानों को 'क्षर' कहते हैं। अनाशवान् को 'अक्षर' कहते हैं, जो सब क्षर में स्थित और अन्तर्यामी होकर रहता है; पुरुषोत्तम इन दोनों पुरुषो से परे है, जो परमात्मा कहलाता है। वह अविनाशी सर्वेश्वर सारी सृष्टि में प्रवेश करके सब का पोषण करता है। पुरुषोत्तम के जानने वालो को ही सर्वज्ञता होती है, क्योंकि ये जानने वाले, पुरुषोत्तम सर्वेश्वर का पूर्ण भाव से भजन करते हैं। गीता में कथन किये गये ज्ञान को जान कर मनुष्य बुद्धिमान् बने और अपना जीवन सफल करे।

॥ पंचदश अध्याय समाप्त ॥

तरह घट—मठादि आवरणों में महदाकाशांश अपने अशी से अभिन्न रहता है। चेतन जीवनी शक्ति है। अन्तःकरण-युक्त रहते हुए इसका कार्य विदित होता है। इन बातों की विशेष जानकारी के लिये 'सत्संग योग' पढ़िये।

* चेतन आत्मा पर से जड़ के सब आवरणों के हट जाने पर यह दृष्टि होती है।

अध्याय—१६

अथ दैवासुर-संपद्विभागयोग

इस अध्याय का विषय दैवासुर संपद्विभागयोग है।

अध्याय ९ में आसुरी और दैवी प्रकृति वालों का वर्णन समास रूप से देते हुए कहा है कि परम भावमय परमात्म-स्वरूप को दैवी प्रकृति वाले पहचान सकते हैं, परन्तु आसुरी प्रकृति वाले उसे नहीं पहचान सकते।

उस परमात्म-स्वरूप पुरुषोत्तम का पहचानना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि उसके ही पहचानने से जीवों को मोक्ष प्राप्त होता है।

अतएव यह बड़ी आवश्यकता हुई कि दैवी और आसुरी सम्पदाओं को विभागपूर्वक कुछ विस्तार से जनाया जाय, ताकि लोग अपने को आसुरी संपद् से निकालते और बचाते रह कर दैवी संपद् में दृढ़ता से अपने को रखे रहें अर्थात् अध्याय १५ में कहे गये पुरुषोत्तम को प्राप्त करने के योग्य गुणों को वे यत्न से धारण कर सकें।

दैवी सम्पदा—(१)निर्भयता,(२)अन्तःकरण की शुद्धता;(३) निष्ठा (ज्ञान और योग में निरन्तर गाढ़ स्थिति), (४)दान, (५) इन्द्रिय-निग्रह, (६) यज्ञ (लोक-उपकारार्थ कर्म्म), (७) अध्यात्म-वाक्यों का पाठ, (८) तप, (९) सरलता, (१०) अहिंसा (११) सत्य, (१२) अक्रोध, (१३) त्याग, (१४) शान्ति,(१५)अपिशुनता (चुगली नहीं करनी), (१६)दया,(१७)इन्द्रिय-भोग में लोभी नहीं होना, (१८)कोमल हृदयता, (१९)अयोग्य कर्म्म करने में लज्जा,

(२०) अचंचलता, (२१) तेजस्विता, (२२) क्षमा, (२३) धृति अर्थात् धैर्य (२४) शौच, (२५) अद्रोह और (२६) निरभिमानिता; इन २६ उत्तम-उत्तम गुणों को 'दैवीसम्पत्ति' कहते हैं। जिनमें ये हों, वे दैवी सम्पत्ति वाले हैं।

आसुरी सम्पदा—(१) दम्भ, (२) दर्प (घमण्ड), (३) अभिमान, (४) क्रोध, (५) निष्ठुरता या कड़ाई और (६) अज्ञान—ये छः दुर्गुण आसुरी सम्पद् के हैं। ये जिनमें होते हैं, वे आसुरी सम्पद् के मनुष्य हैं। अथवा यह कहना अनुचित नहीं होगा कि दैवी सम्पत्ति के उल्टे लक्षण सब आसुरी सम्पत्ति के हैं।

दैवी सम्पद् मोक्षदायक और आसुरी सम्पद् बन्धन करने वाले हैं। इस लोक मे दो प्रकार के लोग होते हैं—दैवी और आसुरी। प्रवृत्ति क्या है, निवृत्ति क्या है, आसुरी लक्षण वाले यह नहीं जानते। उन्हें पवित्रता और सदाचारिता ज्ञात नहीं होती और न थे सत्य का ही आदर करते हैं। वे कहते हैं—"जगत असत्य, निराधार और ईश्वर‡ रहित है। जीव-सृष्टि केवल स्त्री-पुरुष के संयोग से हुई है। उसमें विषय ही भोगना कर्त्तव्य है।" ये भयानक काम करने वाले मतिमन्द—जगत् के शत्रु—दुष्टगण इस अभिप्राय को पकड़े हुए संसार-मर्यादा के नाश के लिये बढ़ते हैं। ये तृप्त न होने वाली कामनाओं से भरपूर, पाखण्डी, मानी, मदान्ध, अशुभ

---

‡जो एक सर्वव्यापी और सर्वपर ईश्वर नहीं मानते, बल्कि प्रत्येक शरीरस्थ जीवात्मा को अर्थात् भिन्न-भिन्न असंख्य शरीरों की आत्मा को, अनेक जानते हुए, उन्हीं अनेक को पृथक्-पृथक् अनेकता में रह सारी सृष्टि में फैल कर रहने को ही, उनकी सर्वव्यापकता बतला कर उन अनेक को ही ईश्वर मानते हैं; वे सर्वसाधारण की दृष्टि में ईश्वरवादी अर्थात् आस्तिक बनते हैं, पर यथार्थतः वे ईश्वरवादी वा आस्तिक कहने योग्य नहीं हैं—नास्तिक हैं। ईश्वर एक ही होना चाहिये, अनेक नहीं।

निश्चय वाले, मोहवश दुष्ट इच्छायें ग्रहण करके संसार में फँसे रहते हैं। संसार-प्रलय तक अन्त नहीं होने वाली, नाप-जोख से हीन चिन्ताओं का सहारा लेकर, कामों के अत्यन्त भोगी, 'भोग ही सर्वस्व है' ऐसा निश्चय वाले, अनेक आशाओं के जाल में फँसे हुए कामी, क्रोधी, विषय-भोग के लिये अन्याय से धन-संग्रह करना चाहते हैं। इनकी इच्छायें बहुत होती हैं, ये अपने को श्रीमान्, सिद्ध, बलवान् और कुलीन मानते हैं। अपने समान किसी दूसरे को नहीं मानते हैं। मैं यज्ञ करूँगा, दान करूँगा, आनन्द करूँगा, एक शत्रु को तो मारा, अब दूसरे को भी मारूँगा—मूढ़त्व दशा में आसुरी सम्पत्ति के लोग ऐसा मानते हैं। ये मोह-जाल में फँस, विषय-भोग में मस्त, अशुभ नरक में पड़ते हैं। इन नीच, द्वेषी, क्रूर अधम नरों को परमात्मा अत्यन्त आसुरी योनियों में बारम्बार डालते हैं। परमात्मा को नहीं पाकर ये और भी अधम गति को प्राप्त होते हैं।

काम, क्रोध और लोभ, ये नरक के तीन द्वार हैं। अतएव मनुष्य को चाहिये कि इन्हें त्याग दें। आत्मा को ये तीनों अत्यन्त हानि में डालते हैं। परन्तु इन तीनों से दूर रहने वाला मनुष्य आत्मा के कल्याण का आचरण करता है और परम गति को पाता है।

सद्ग्रन्थों में कही गयी विधियों को छोड़ कर जो मनमाना करने लगता है, वह विषय-भोगों में डूबता है। इस तरह वह न सिद्धि पाता है, न सुख पाता है और न परम गति पाता है। अतएव सद्ग्रन्थों-द्वारा निर्णीत कर्त्तव्य कर्म्मों को जान कर कर्म्म करना चाहिये।

॥ षष्ठदश अध्याय समाप्त ॥

अध्याय—१७

अथ श्रद्धात्रयविभागयोग

इस अध्याय का विषय श्रद्धात्रय-विभागयोग है।

सोलहवें अध्याय में शास्त्र या सद्ग्रन्थ के अनुकूल कर्म्म करने का निश्चय बतलाया गया है। इसलिये प्रश्न होता है कि जो शास्त्र-विधि को छोड़ कर केवल श्रद्धा से ही पूजादि कर्म्म करते हैं, उनकी गति कैसी होती है—सात्विकी, राजसी वा तामसी ?

उत्तर में कहा गया है—तीनों गुणों के भिन्न-भिन्न उत्कर्ष-भाव वाले भिन्न-भिन्न मनुष्य सतोगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी होते हैं। तीनों की तीन तरह की श्रद्धाएँ होती हैं। प्रत्येक कुछ न कुछ स्वभाव से ही श्रद्धाशील अवश्य होता है। जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, वह वैसा ही मनुष्य होता है।

सात्विक लोग देवताओं को, राजस लोग यक्षों को और तामस लोग भूत-प्रेतादि को पूजते हैं। जो पाखण्डी और अहंकारी, इच्छा और विषयासक्ति में प्रेम के बल प्रेरित हो, शास्त्रीय विधि से रहित भयंकर तप करते हैं, वे शरीर और अन्तरात्मा को भी कष्ट देते हैं। ऐसे लोग आसुरी निश्चय वाले हैं।

आहार भी गुणानुसार होते हैं और उनका भी प्रभाव आहार करने वालों पर होता है। उसी प्रकार यज्ञ, दान और तप के लिये भी समझना चाहिये। आयुष्य, सात्विकता, बल, आरोग्य, सुख और रुचि बढ़ाने वाले, रसदार, चिकने, पौष्टिक और मन को प्रिय—ऐसे आहार सात्विक लोगों को प्रिय होते हैं। चरपरे,

विशेष लवण-युक्त, बहुत गरम*, नीमवत् तीते, रूखे और दाहकारक आहार राजस लोगों को प्रिय होते हैं। रोटी, भात आदि बन कर पहर भर से पड़ा हुआ, उतरा हुआ अर्थात् सड़ने पर आया हुआ फल, दुर्गन्ध-युक्त, बासी, जूठा आदि अपवित्र आहार; तामसी लोगों के हैं। उन्हें ऐसे ही भोजन प्रिय लगते हैं।

वह सात्त्विक यज्ञ है, जो फल-आश से रहित, विधिपूर्वक कर्त्तव्य जान कर और परोपकारार्थ खूब मन लगा कर किया जाता है। जो फलेच्छा से और दम्भ से किया जाता है, वह यज्ञ राजसी है। विधिविहीन, फलाश-त्याग नहीं, श्रद्धा नहीं, इस प्रकार के किये गये यज्ञ को तामस यज्ञ कहते हैं।

देव, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानी की पूजा, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य्य, अहिंसा—ये शारीरिक तप हैं। अकटु, सत्य, प्रिय और हितकर वचनों को बोलना और धर्मग्रन्थों का अभ्यास—ये वाचिक तप कहलाते हैं। मन की प्रसन्नता, सौम्यता (प्रिय स्वभाव-युक्त होना), मौन, आत्म-संयम और शुद्ध भावना—ये मानसिक तप हैं। परम श्रद्धालु, फलाश-त्यागी, समत्व में रहते हुए अच्छे स्वभाव के मनुष्य, उपर्युक्त तीनों प्रकार के जो तप करते हैं; उन्हें सात्त्विक तप कहते है। जो तप सत्कार, मान और पूजा के लिये पाखण्डपूर्वक होता है, वह राजस है। कष्टकर, दुराग्रह से किये हुए और दूसरे को दुःख देने के हेतु किये हुए तप को तामस तप कहा है।

---

*सात्त्विक आहारों में भी अल्प-अल्प छहों स्वाद होते हैं। परन्तु ये जब विशेष मात्रा में होते हैं, तब सात्त्विक नहीं रहते हैं। विशेष औंटा हुआ गाय का दूध, भैंस का दूध, मत्स्य, मांस और पक्षी एवं कछुए, मछली, मुर्गी आदि सब प्रकार के अण्डजों के अण्डे गुण में बहुत गर्म हैं। ये उत्तेजक और वीर्य्य-रक्षा के बाधक हैं। ये सात्त्विक आहार नहीं हैं।

जो दान देश, काल और पात्र का विचार कर उचित जँचने पर और बदला पाने की इच्छा छोड़ कर दिया जाता है, वह सात्त्विक दान है। जो दान बदला पाने का लक्ष्य करके दुःख के साथ दिया जाता है, वह राजस दान है। देश, काल और पात्र का कुछ भी विचार न कर तिरस्कार करके अनादर से दिया हुआ दान, तामस दान है। इस अध्याय के नाम का विषय-वर्णन गीता में यहीं तक है।

॥ सप्तदश अध्याय समाप्त ॥

अध्याय—१८

अथ संन्यासयोग

इस अन्तिम अध्याय का विषय संन्यासयोग है।

सत्रहवें अध्याय तक के ज्ञान के बाद संन्यास आश्रम का ज्ञान बताने के लिये और जो कुछ बचा, उसे भी कहने की आवश्यकता अवश्य ही है। इसीलिये यह अन्तिम अध्याय कहा गया है।

संन्यास का अर्थ त्याग भी किया जाता है। परन्तु इस अध्याय में संन्यास और त्याग के भिन्न-भिन्न रहस्य बतलाये गए हैं। इच्छा से उत्पन्न कर्मों के त्याग को 'संन्यास' और समस्त कर्म्मफल त्याग देने को 'त्याग' कहते हैं।

कितने विचारवान् कहते हैं कि कर्म्म-मात्र दोषमय होने के कारण त्यागने योग्य हैं, दूसरे का कहना है कि यज्ञ, दान और तप-रूप कर्म्म त्यागने योग्य नहीं हैं, करने योग्य हैं।

त्याग तीन प्रकार के हैं। यज्ञ, दान तथा तप विवेकी को पवित्र करने वाले हैं। परन्तु इन कर्म्मों को भी अनासक्ति से और फल-इच्छा त्याग‡ कर करना चाहिये। नियम वाले कर्म्मों का त्याग नहीं करना चाहिये। मोह-ग्रसित हो यदि उनको त्यागा जाय, तो वह त्याग तामस माना गया है। दुःखदायक जान काया-कष्ट के भय से कर्म्म का जो त्याग करता है, वह राजस त्याग है। इससे उसे त्याग का फल नहीं मिलता है। नियत या नियम वाला कर्म्म करना चाहिये, ऐसा समझ कर जो किया जाता है—परन्तु

‡ यह सात्त्विक त्याग है।

अनासक्ति से और फल-आश छोड़कर—वह सात्त्विक कर्म्म है। जो संशयरहित हैं, शुभ भावना वाले हैं, त्यागी और बुद्धिमान हैं, वे अकुशल (अकल्याणकारी) कर्म्म से द्वेष नहीं करते और कुशल (कल्याणकारी) कर्म्म में डूबे हुए भी नहीं रहते हैं। जो कर्म्म-फल का त्याग करता है, वह त्यागी है। देहधारियों से सम्पूर्णतः कर्म्म का त्याग नहीं हो सकता है। सकामी पुरुषों के कर्म्म के ही (१) अच्छा, (२) बुरा (३) अच्छा-बुरा-मिश्रित—तीन प्रकार के फल मरने पर भी होते हैं। और त्यागी† पुरुषों के कर्म्म का फल किसी काल में भी नहीं होता, क्योंकि उनसे हुए कर्म्म यथार्थ में कर्म्म ही नहीं हैं।

सम्पूर्ण कर्म्मों के सिद्ध होने में ये पाँच हेतु हैं—(१) क्षेत्र, (२)कर्त्ता, (३)अलग-अलग साधन, (४)अलग-अलग क्रियायें और (५,दैव अर्थात् अज्ञात;‡ ऐसा होने पर भी जो अपने ही को कर्त्ता मानता है, वह अबोध है। जिसने अहंकार को त्यागा* है, पवित्र बुद्धिवाला है, वह कर्म्म करता हुआ भी कर्म्म-बन्धन से रहित

---

† ऐसा त्यागी, जिसे शरीर छोड़ने पर स्वर्ग आदि किसी लोक-लोकान्तर में रुकना न पड़े, उसे ब्रह्म-निर्वाण ही प्राप्त हो जाय।

‡ भारत की स्वतंत्रता के हेतु दैव या अज्ञात कारण को लोग नहीं जानते थे। (१) क्षेत्र (२)कर्त्ता (३)अलग-अलग साधन और (४)अलग-अलग क्रियाएँ, इन चारों से लगभग पचास वर्षों से भारतवासी घोर चेष्टा कर रहे थे; परन्तु अज्ञात कारण—दैवात् कारण पीछे प्रगट हुआ—वह था द्वितीय विश्व-युद्ध। इसी को होनी अथवा प्रारब्ध भी कह सकेंगे।

* स्थिर और पूर्ण त्याग केवल बुद्धि-विचार-द्वारा सम्भव नहीं है। ध्यानाभ्यास-द्वारा जो समाधि में अन्तःकरण से ऊपर उठकर रहता है, वही शरीर-भाव में उतर कर अहंकार-रहित हो कर्म्म कर सकता है, यथार्थ में उसीका त्याग दृढ़ और पूर्ण है।

रहता है। कर्म्म में प्रेरण करने वाले ये तीन हैं—(१) ज्ञान, (२) ज्ञेय (जानने की वस्तु) और (३) ज्ञाता (जाननेवाले)। और कर्त्ता, इन्द्रिय एवं क्रिया के संयोग से कर्म्म होता है।

गुण-भेद के अनुसार ज्ञान, कर्म्म और कर्त्ता, तीन प्रकार के हैं। जिसके द्वारा सब में एक ही अविनाशी भाव और अनेकता में एकता दरसे, वह सात्त्विक ज्ञान है। भिन्न-भिन्न में भिन्नता ही दरसे, वह राजस ज्ञान है और जो निष्कारण तत्त्वार्थ को बिना जाने-बूझे एक ही बात में यह समझ कर आसक्त रहता है कि यही सब कुछ है, वह अल्प ज्ञान तामस है।

जो अहंकार और आसक्ति-रहित है, जिसमें दृढ़ता और उत्साह है, जो सफलता-विफलता में हर्ष-शोक नहीं करता है, वह सात्त्विक कर्त्ता है। जो रागी (सांसारिक विषयों का प्रेमी) है, कर्म्म-फल-इच्छुक है, लोभी है, अपवित्र है और हर्ष-शोक वाला है, वह राजस कर्त्ता है। जो अव्यवस्थित, असंस्कारी झक्की, शठ, नीच, आलसी, अप्रसन्नचित्त और दीर्घसूत्री (जो कार्य का सम्पादन यथोचित समय से अधिक विलम्ब लगाकर करे) है; वह तामस कर्त्ता है।

प्रवृत्ति, निवृत्ति, कार्य, अकार्य, भय, अभय, बन्धन और मोक्ष का भेद जो बुद्धि जानती है, वह सात्त्विकी है। जो बुद्धि धर्म, अधर्म और कार्य-अकार्य का विचार गलत ढंग से करती है, वह राजसी है। जो बुद्धि अन्धकार से घिरी हुई है, अधर्म को धर्म मानती है और सब बातें उल्टी ही उल्टी देखती है, वह तामसी है।

जिस स्थिर वा इधर-उधर नहीं भागने वाली धृति वा धारणा से मन, प्राण और इन्द्रियों के व्यापार, योग-द्वारा मनुष्य करता है, वह धृति सात्त्विकी है। जिस धृति से मनुष्य फलाकांक्षी होकर धर्म, काम और अर्थ को आसक्ति से धारण करता

है, वह राजसी है। जिस धृति से दुर्बुद्धि मनुष्य निद्रा, भय शोक, निराशा और मद को छोड़ नहीं सकता, वह तामसी है।

जिस अभ्यास से मनुष्य प्रसन्न रहता है, जिससे दुःख का अन्त होता है, जो आरम्भ में विष के समान लगता है, परन्तु फल में अमृत ऐसा होता है और जो आत्म-ज्ञान की प्रसन्नता से उत्पन्न होता है; वह सात्त्विक सुख है। विषय और इन्द्रिय के संयोग से जो आरम्भ में अमृत के समान लगता है, पर फल में विष के समान होता है, वह सुख राजस है। जो आरम्भ और फल में मोहित करने वाला है और निद्रा, आलस और प्रमाद से उत्पन्न हुआ है, वह तामस सुख है।

पृथ्वी और स्वर्ग में ऐसा कोई नहीं है, जो त्रैगुण से मुक्त हो। चारों वर्णों के स्वभावज कर्म्म हैं। शम, दम, शौच, क्षमा, सरलता ज्ञान, अनुभव, आस्तिकता— ये ब्राह्मण के स्वभावज कर्म्म हैं। शौर्य्य (शूर-वीरता), तेजस्विता, धैर्य्य, युद्ध से न भागना, दान देना और प्रभु वा शासक-भाव—ये क्षत्रियों के स्वभावज कर्म्म हैं। खेती, गौ पालन और वाणिज्य—ये वैश्य के स्वभावज कर्म्म हैं। और परिचर्य्या वा सेवा-कर्म्म शूद्र का स्वभावज कर्म्म है। अपने-अपने स्वाभाविक कर्म्म में रत मनुष्य सिद्धि पाता है। तात्पर्य यह कि अपने स्वभावानुकूल कर्म्म करते हुए मनुष्य मोक्ष पाने का साधन कर सकते हैं और उसे प्राप्त कर सकते हैं। मोक्ष पाने का साधन परमात्मा का भजन है। ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में रहकर कुम्हार की तरह उन्हें चाक पर घुमाता है। (ईश्वर कर्म्म-फल-भोग में घुमाता है।) अतएव सर्वभाव से परमात्मा—ईश्वर की शरण लेनी चाहिये। उनकी कृपा से परम शान्तिमय अमर पद की प्राप्ति होगी।

सब धर्म्मों को छोड़* कर परमात्मा की ही शरण लेनी चाहिये। वे सब पापों से मुक्त करेंगे। यह गूढ़ ज्ञान (गीता-ज्ञान) जो भक्तों को देगा, वह परमात्म-भक्ति-द्वारा निस्संदेह परमात्मा को पावेगा। उस ज्ञानदाता की अपेक्षा मनुष्यों में पृथ्वी पर परमात्मा को कोई अधिक प्रिय नहीं है और न होने वाला है। जो गीता-ज्ञान का अभ्यास करेगा, वह ज्ञान-यज्ञ-द्वारा परमात्मा का भजन करेगा। अध्याय ३ के ५वें श्लोक में और अध्याय १८ के ११वें श्लोक में कहा गया है कि "प्रकृति से उत्पन्न गुण (रज, सत्, तम,या उत्पादक, पोषक, विनाशक) प्रत्येक से बरबस कर्म्म कराते हैं, कोई एक क्षण भर भी बिना कर्म्म किये नहीं रह सकता। देहधारी के लिये सम्पूर्णतः कर्म्म का त्याग असम्भव है।"

---

*सब धर्म्मों से वही छूटेगा, जो सब कर्म्मों से छूटेगा, क्योंकि कर्म्म करने से ही धर्म्म होता है। इन्द्रियों में चेतन-धाराओं के रहने से ही कर्म्म होता है। चेतन-धाराओं को ध्यान-योग-द्वारा इन्द्रियों में से आकृष्ट कर, आज्ञाचक्र के केन्द्र में केन्द्रित करने से कर्म्मों से छुट-कारा जायगा, तो सब कर्म्म छूट जायेंगे। अर्जुन वाह्यरूप से तो भगवान् श्रीकृष्ण की शरण में सब प्रकार से था ही, परन्तु केवल उसी प्रकार शरण लेने से सब धर्म्म नहीं छूट सकते हैं। उपर्युक्त प्रकार से परमात्म-शरण में जाने से ही सब धर्म्म छूटते हैं। अर्जुन को इस उपर्युक्त प्रकार से भी शरण में जाना चाहिये। इसीलिये उन्हें यह उपदेश दिया गया था। पापी इस प्रकार ईश्वर की शरण में जाय, यह संभव नहीं है। इस प्रकार से शरण लेने वाले को तो इसका अभ्यास करने के समय से ही परमात्मा की सन्मुखता होने लगती है और वह उनकी कृपा से छूट जाता है।

इन बातों से विदित होता है कि देहधारियों को कर्म्म में लगाने के लिये त्रैगुणों का स्वाभाविक महान् अधिकार है।

धर्म कर्म्माधीन है, अतएव त्रैगुणातीत होने पर ही सब धर्म्मों से छूट जा सकता है। अध्याय २ श्लोक ४५ में निस्त्रैगुण होने के लिये कहा भी गया है। अध्याय १८ श्लोक ११ में यह भी कहा गया है कि कर्म्म-फल का त्याग करना 'त्याग' है। यह त्याग भी केवल बौद्धिक विवेक से सम्पूर्णतः होना असम्भव है, क्योंकि कर्म्म-फल-प्राप्ति की इच्छा केवल विचार ही विचार से वैसे ही छूट नहीं सकती, जैसे सौर जगत् में रहते हुए सूर्य्य के प्रभाव से छूटना केवल विचार ही विचार से नहीं हो सकता है। मनज इच्छा-मण्डल या मन-मण्डल से ध्यान-योग द्वारा ऊपर उठने पर मन-मण्डल छूटेगा, इच्छाएँ समाप्त हो जायेंगी। इस तरह कर्म्म-फल की इच्छा का नाश हो जायगा या छूटेगा।

निस्त्रैगुण वा गुणातीत होने में तो केवल विचार ही विचार की लवलेश-मात्र भी स्थान और शक्ति नहीं है। इसके लिये तो उपर्युक्त ऊद्र्ध्वगति ही एकमात्र, ओर से छोर तक, विधि है। अन्य विधि कदापि नहीं हो सकती है। चाहे सब कर्म्मों का त्याग कर, एक परमात्मा की शरण में जाया जाय, चाहे निस्त्रैगुण वा गुणातीत बना जाय और चाहे कर्म्म-फल त्याग कर, शरीरधारी रहते हुए, कर्म्म करते हुए, कर्म्म-फल-त्यागी बनकर, सच्चा योगी बना जाय—इन बातों के लिये अपने अन्दर ध्यान-योग-द्वारा पहले इन्द्रियों की धाराओं को आज्ञा-चक्र के

केन्द्र-विन्दु में केन्द्रित करना होगा; इस प्रकार केन्द्रित होने में सिमटाव के कारण 'ऊर्ध्वगति' होगी और तब मन-मण्डल और गुणों के मण्डलों को पार किया जा सकेगा। ऐसा अवश्य होगा।

भक्तजन जानें कि ध्यानयोग में परमात्म-भक्ति कदापि नहीं छूटती है। इसके द्वारा भक्ति की गंभीरता में प्रवेश कर, उसके अन्त तक पहुँचा जाता है। जहाँ—"जानत तुम्हहिं तुम्हइ होइ जाई।" चरितार्थ होता है। संन्यास और त्याग में यही गूढ़ रहस्य है।

॥ अष्टादश अध्याय समाप्त ॥

महर्षि मेँहीँ साहित्य-सुमनावली

१.	सत्संग-योग (चारों भाग)	६.००
२.	सन्तवाणी-सटीक	४.००
३.	रामचरितमानस-सार-सटीक	४.०
४.	वेद-दर्शन-योग	२.२५
५.	सत्संग-सुधा, प्रथम भाग	१.५०
६.	सत्संग-सुधा, द्वितीय भाग	१.५०
७.	महर्षि मेँहीँ -पदावली	१.५०
८.	मोक्ष दर्शन	१.७५
९.	विनय-पत्रिका-सार-सटीक	०.७५
१०.	भावार्थ-सहित घट रामायण पदावली	१.२५
११.	ईश्वर का स्वरूप और उसकी प्राप्ति	०.४०
१२.	ज्ञान-योग-युक्त ईश्वर भक्ति	०.५०

सत्संगी - साधकों - द्वारा - विरचित

१.	ओऽम् विवेचन (श्री सन्तसेवी जी महाराज)	१.२५
२.	योग माहात्म्य (श्री सन्तसेवी जी महाराज)	१.००
3.	**The Philosophy of Salvation** **(by Sri Satyadeo Sah)**	**2.00**
4.	**Essence of Gita Yoga** **(Translated by Sri Satyadeo Sah)**	**3.00**
५.	राजगीर-हरिद्वार-दिल्ली-अङ्क	२.५०
६.	"शान्ति-सन्देश" मासिक पत्र (वार्षिक शुल्क)	३.००

प्राप्ति-स्थान

व्यवस्थापक, प्रकाशन-विभाग, महर्षि मेँहीँ आश्रम

कुप्पाघाट, भागलपुर-३ (बिहार)

द्रष्टव्य ।—पुस्तक मँगाने वाले धर्म-प्रेमियों को आदेश-पत्र के साथ-साथ अग्रिम भी भेजना चाहिये।